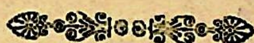
दाचार - दर्पण



अमरनाथ जेतली

सदाचार-दर्पण ।



लेखक—

पण्डित अमरनाथ जेतली शास्त्री

विद्याभूषण

प्रोफेसर, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस ।



प्रकाशक—

नन्दकिशोरशर्मा

सदाचाराश्रम, काशी ।



मुद्रक—

कृ० व० पावगी,

हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस सिटी ।



जन्माष्टमी १९८९



प्रथम संस्करण १०००] [मूल्य ।)

भूमिका

यह पुस्तक विद्यार्थियों के हित के लिये लिखी गई है। इस के सुयोग्य रचयिता ने इस में शास्त्रों का निचोड़ दे दिया है। धर्म शिक्षा से सदाचार उत्पन्न होता है। वह शिक्षा किसी काम की नहीं, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से न हो, जो उसके आचरण को शुद्ध न बनावे और जिसको प्राप्त करके वह अच्छा नागरिक न हो सके। जापान के प्रत्येक विद्यालय में सम्राट् की ओर से निम्नलिखित आशय की आज्ञा की घोषणा की जाती है—

"मां-बाप के प्रति सन्तति-धर्म का पालन करो;
भाई और बहन के साथ स्नेह करो;
पति-पत्नी से दाम्पत्य भाव निभाओ;
मित्र के नाते सच्चे बनो; नम्रता और संयम से रहो;
सब के लिए अपनी शुभ-कामना का द्वार खोलदो;

विद्या की प्राप्ति तथा कला की वृद्धि करके बौद्धिक क्षमता को बढ़ाओ और नैतिक शक्ति में परिपूर्णता लाओ;

इसके अतिरिक्त, जनता की भलाई में योग दान दो, और सार्वजनिक हितों को आगे बढ़ाओ;

राजकीय विधान तथा नियमों का जो समाज के हित के अनुकूल हों, सदैव आदर करो; यदि आवश्यकता पड़जाय तो साहस पूर्वक अपने को राष्ट्र-हित की वेदी पर चढ़ा दो; किन्तु यह देख लो कि तुम्हारा यह काम मानव धर्म के विरुद्ध तो नहीं है।"

यह है संक्षेप में सदाचार की शिक्षा। सदाचार की वृद्धि के लिये निम्नलिखित बातों पर भी ध्यान रखने की आवश्यकता है।

(१) महापुरुषों, साधु-सन्तों और धार्मिक सज्जनों के जीवन चरित्र को पाठ्य पुस्तकों द्वारा पढ़ाना और उसको समय समय पर कथा द्वारा सुनाना।

(२) उनके चित्र मिल सकें, तो विद्यार्थियों के सामने रखना।

(३) उनकी जयन्तियाँ मनाना।

(४) धार्मिक भजन और श्लोक पाठशालाओं में गाना।

(५) सन्तों और वीर पुरुषों के जीवन को नाटकों द्वारा प्रदर्शित करना।

(६) विद्यार्थियों को मेलों में और त्योहारों पर सार्वजनिक सेवा में डालना, जिससे उनके अन्दर प्राणि मात्र की सेवा करने का भाव उत्पन्न हो।

(७) जंगलों पर्वतों और नदियों पर जाकर प्राकृतिक शोभा का दिग्दर्शन कराना, जिसमें उनके अन्दर प्राकृतिक सौन्दर्य के रचयिता से प्रेम (भक्ति) उत्पन्न हो।

(८) स्कूलों को साफ़ और स्वच्छ रखना, उनके छात्रावासों में सादी पोशाक और सात्विक भोजन देना, जिसमें उनके अन्दर आध्यात्मिक विचारों का अङ्कुर उत्पन्न हो। सदाचारी अध्यापकों और बालकों को आपस में अधिक मिलने का अवसर देना।

(९) माता पिता और अध्यापकों का बालकों के हित केलिये कभी कभी मिलते रहना आवश्यक है।

(१०) अशान्ति, कोलाहल और साम्प्रदायिक वाद-विवाद से बालकों को दूर रखना।

(११) लड़कों को धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने के लिये देते रहना चाहिये, जिसमें आत्मोन्नति सम्बन्धी ग्रन्थों के पढ़ने की आदत पड़े।

इस प्रकार से धार्मिक शिक्षा दी जा सकती है। मनुजीने धर्म के जो दस लक्षण बताए हैं, उनकी व्याख्या उदाहरण सहित समय समय पर करते रहना चाहिए। जो उपदेश करें, उनमें वे सब गुण भी होने चाहिए जिनकी वे चर्चा करें। उपदेशक और अध्यापक ऐसे हों जिनको धर्म में विश्वास हो, और वह विश्वास न केवल उनके शब्दों से ही प्रत्युत उनके कर्तव्यों से भी प्रगट हो।

आशा है कि इस पुस्तक के पढ़ने से बालकों में धार्मिक बल उत्पन्न होगा और वे सदाचारी बनेंगे।

रामनारायण मिश्र
(हेडमास्टर सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल, बनारस)

प्राक्कथन ।

अंग्रेजी स्कूल-कालेजों में धर्मशिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। किन्तु भारतवर्ष में अनेक सम्प्रदाय होने से उसमें जटिलता अवश्य आजाती है। इस जटिलता को सुलझाना असम्भव नहीं है। मानवमात्रोपयोगी साधारण धर्म के अंगों को लेकर यदि उपयुक्त पुस्तकें लिखी जांय तो अवश्य सार्वजनिक उपकार हो सकता है।

बड़े आनन्द की बात है कि काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय और उसके अन्तर्गत सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल में पहिले ही से उसके जन्मदताओं ने धर्मशिक्षा का प्रबन्ध रखा है। हिन्दू स्कूल के उच्च क्लासों में जिस पुस्तक के आधार पर धार्मिक शिक्षा दी जाती है, वह पुस्तक अंग्रेजी में लिखी है।

अनुभव बताता है कि धर्म के तत्त्वों को विदेशी भाषा में पूर्णरीत्या समझना स्कूल के विद्यार्थियों के लिये कठिन अवश्य है। बालकों की इस कठिनाई को ध्यान में रखकर महामना पण्डित मदन मोहन मालवीयजी ने धर्मशिक्षा की पाठ्य पुस्तकों को हिन्दी भाषा में सनातन धर्मानुकूल लिखने की आज्ञा दी। यद्यपि मेरे जैसे क्षुद्र बुद्धि

वाले पुरुष के लिये यह भार उठाना कठिन था; तथापि 'आज्ञा गुरूणां परिपालनीया' इस विचार से उसी अंग्रेजी पुस्तक "सनातन धर्म" के कतिपय अध्यायों की छाया लेकर दशम कक्षा के विद्यार्थियों के लिये सनातन धर्म के अनुकूल यह पुस्तक हिन्दी में लिखी गई। अतः मैं उक्त पुस्तक के रचयिता महोदय का हृदय से कृतज्ञ हूं।

इस पुस्तक का वास्तविक नाम तो "सनातन धर्म प्रवेशिका" है। इसके कई भाग होंगे। परन्तु प्रस्तुत पुस्तक में सदाचार विज्ञान की ही अधिकतर व्याख्या की गई है। अतः इसका नाम सदाचार-दर्पण रखा गया।

वस्तुतः इस पुस्तक को प्रकाशित करने का श्रेय परम पूजनीय पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद जी शास्त्री को है। उन्हीं के प्रोत्साहित करने से मैं इस पुस्तक को लिख सका। उन्हों ने केवल मुझे प्रोत्साहित मात्र ही नहीं किया, किन्तु इस पुस्तक के कुछ उपयोगी अंशों को संकलित करने, संशोधन करने, प्रूफ देखने व मुद्रणादि कराने का कुल बोझ अपने ऊपर लिया। अतः उक्त पंडितजी को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ। सच तो यह है कि बिना पं० विन्ध्येश्वरी प्रसादजी शास्त्री की सहायता के सम्भवतः यह पुस्तक प्रकाशित ही न हो सकती थी।

सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के प्रधानाध्यापक पं० रामनारायण मिश्रजी तथा अतिरिक्त प्रधानाध्यापक पं० कालीप्रसन्न चक्रवर्तीजी ने भी इस पुस्तक के लिखने में मुझे प्रोत्साहित किया और उपयोगी परामर्श तथा सहयोग देकर अनुगृहीत किया। इस लिये उक्त सज्जनों को भी मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

जैसा मैं चाहता हूं, अभी यह पुस्तक उपयुक्त नहीं बन सकी है। समय का अभाव ही प्रधान कारण है। शीघ्रता में ही यह पुस्तक लिखी गयी और छापी गयी। इसमें अभी बहुत बातों का निवेश-प्रवेश करना है। अगले संस्करण में इसकी पूर्त्ति की जायगी। यदि ईश्वर का अनुग्रह हुआ और इस पुस्तक को धर्मप्रेमियों ने अपनाया तो आशा है थोड़े दिनों में अन्यकक्षाओं के लिये भी इसी ढंग की पुस्तकें प्रकाशित कर सकूंगा।

हमारे ध्यान में न आने के कारण इस पुस्तक में कई त्रुटियें रह गई होंगी। अतः सज्जन वृन्द से नम्र निवेदन है कि उन त्रुटियों को लेखक को दृष्टिगोचर कराने की कृपा करें, जिससे कि वे त्रुटियें द्वितीय संस्करण में दूर हो सकें।

विनीत—

अमरनाथ जेतली





Pt. Madan Mohan Malviya

समर्पण



Pt. Madan Mohan Malviya



यह " सदाचार–दर्पण "

सदाचार मूर्त्ति

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजी महाराज

के करकमलों में लेखक द्वारा

बहुमानपुरस्सर सादर

समर्पित है ।



सदाचार-दर्पण ।

प्रथम अध्याय ।

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम् ।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये ॥ १ ॥

आचारविज्ञान व उसका तात्पर्य ।

संसार में प्रत्येक कर्म करने के लिये कर्तव्य-कर्म-कुशलता व कर्तव्य-कर्म-विज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। यह सच है कि बहुत से लोग कर्तव्य-कर्म-विज्ञान को बिना जानेही कर्तव्य-कर्म-कुशलता में पूर्ण अभ्यास द्वारा निपुण हो जाते हैं, और सुचारु रूप से उस कार्य का सम्पादन करते हैं, परन्तु बिना कर्तव्य-कर्म-विज्ञान को जाने उनकी दशा वैसी ही होती है जैसी कि एक घुने हुए बांस की। जब तक उस बांस को कोई हाथ से दबाता नहीं तब तक तो वह बांस दिखाई देता है, परन्तु जहां किसी ने दबा दिया, वह चूर २ होकर पृथ्वी

पर गिर पड़ता है । ठीक यही दशा हिन्दू-धर्म की देखने में आ रही है । आलस्य, सुस्ती, प्रमाद व विदेशियों के आक्रमणरूप आपत्तियों के कारण धर्म-सर्वस्व हिन्दू जाति धर्म-विज्ञान को भूलकर केवल धर्म-कर्तव्य-कुशलता के आश्रित ही रह गई है और कर्तव्य-विज्ञान को न जानने के कारण अधर्मियों व विधर्मियों के कुतर्कों व आक्षेपों का उत्तर देने में असमर्थ सी हो गयी है । यहीं तक नहीं; किन्तु हिन्दू धर्म के सच्चे भक्तों व जिज्ञासुओं के लिये भी अपने संशय निवृत्त करने का सौभाग्य असम्भव सा हो गया है । परिणाम क्या हुआ ? हिन्दू धर्म पर लोगों की आस्था न रही, हिन्दू कहलाते हुए भी लोग हृदय से इसके कट्टर अनुयायी न रहे ।

"धड़ जाय धर्म न दीजिये"

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"

इत्यादि सिद्धान्त हवा में उड़ गये । यह सब क्यों हुआ ? क्योंकि हम कर्तव्य-विज्ञान-विमूढ़ हो गये । या यों कहिये कि धर्म के आन्तरिक तत्त्वों को भूलकर केवल बाह्याडम्बर के उपासक बन गये । भगवान् मनु का कथन है:—

"यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः"

तर्क द्वारा धर्म का निश्चय करना व कर्तव्य-विज्ञान का जानना एक ही बात है, अतः भगवान् मनु की आज्ञा

के अनुसार भी कर्तव्य-कुशलता प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु कर्तव्य-विज्ञान जानना भी अत्यावश्यक है।

भगवान् मनु के उक्त वचन में "धर्म" शब्द आया है, इस धर्म शब्द की व्याख्याएं कई एक शास्त्रों में दी हैं, उन सब पर विस्तारभय के कारण हम यहां विचार न करके केवल प्रस्तुत विषय को लेते हुए भगवान् व्यासदेव के किये हुए धर्म शब्द के अर्थ को आचार व सदाचार ही में चरितार्थ करेंगे:—

तद्यथाः—

आचारलक्षणो धर्मः सन्तस्त्वाचारलक्षणाः।
आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते॥
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्द्धते।
आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्॥
आचारात्किर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥

(महाभारत, अनुशासन पर्व, १० अ०)

अर्थात्, सदाचार ही धर्म का लक्षण है, सदाचारी होना ही सत्पुरुषों का लक्षण है, सब शास्त्रों में आचार ही को श्रेष्ठ कहा है, धर्म का प्रादुर्भाव आचार ही से होता है, और धर्म से आयु बढ़ती है, (इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि) आचार से आयु प्राप्त होती अर्थात् बढ़ती है, आचार से ही लक्ष्मी की प्राप्ति

होती है, और आचार द्वारा ही इस लोक में और मरने के अनन्तर परलोक में यश की प्राप्ति होती है।

मनु भगवान् ने भी कहा है:—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥
एवमाचरतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥

(मनुस्मृति, १ अ०)

अर्थात् श्रुति और स्मृति में आचार को ही परम धर्म कहा है। इसलिये सदा आचार में लग्न द्विज आत्म-ज्ञानी होता है।

इस प्रकार आचार से धर्म की गति को देखकर मुनियों ने सब तपों के मूल आचार को ही स्वीकृत किया है।

उक्त प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि धर्मात्मा वही है जो सदाचारी है और सच्चे व अटल सदाचारी बनने के लिये केवल सदाचार-कर्म-कुशलता ही पर्याप्त नहीं है; किन्तु सदाचार-कर्म-विज्ञान को जानना भी आवश्यक है। ऐसी स्थिति में पहले हमको यह जानना चाहिये कि विज्ञान शब्द से क्या तात्पर्य है और सदाचार-कर्म-कुशलता व सदाचार-कर्म-विज्ञान में भेद क्या है?

विज्ञान वह है जिसमें पारस्परिक सम्बन्धयुक्त वस्तुओं का बोध-संग्रह नियत रूप से विन्यस्त हो। अर्थात् विज्ञान में यह जानना आवश्यक है कि जिस वस्तु का हम विज्ञान जानना चाहते हैं उस वस्तु का अपने साथ सम्बन्ध रखने वाली अन्य वस्तुओं के साथ परस्पर संबन्ध हो और उन सब वस्तुओं का ज्ञान-समूह क्रम-बद्ध हो। यथार्थ वस्तुओं का संग्रह मात्र ही विज्ञान नहीं है, किन्तु उनका एक दूसरे के साथ जो सम्बन्ध हो तदनुसार उनको सोपपत्तिक नियमित करना विज्ञान का प्रधान अङ्ग है। जैसे कोई कहे कि दूध पीने से अङ्ग पुष्ट होते हैं तो इसके विज्ञान पर विचार करने के लिये यह आवश्यक है कि पहले हम यह जान लें कि अङ्गों का और दूध का परस्पर क्या संबन्ध है और उस सम्बन्ध की उपपत्ति क्या है।

उक्त बातों का विधिवत् ज्ञान विज्ञान कहलाता है, परन्तु कर्तव्य-कर्म-कुशलता में इन सब बातों के जानने की आवश्यकता नहीं कि अङ्गों का व दूध का परस्पर क्या सम्बन्ध है और उसकी उपपत्ति क्या है इत्यादि। इतना जानकर कि दूध पीने से अङ्ग पुष्ट होते हैं, केवल तदनुसार कार्य करने मात्र ही से काम चल जाता है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि जब हमारा प्रयोजन अङ्गों की पुष्टि मात्र ही है और उस प्रयोजन की सिद्धि केवल कर्तव्य-कर्म-कुशलता अर्थात् विधिवत् दूध पीने ही से

हो सकती है तो व्यर्थ विज्ञान जानने का आडम्बर क्यों करें? ठीक है, परन्तु बात यह है कि यदि हम "दूध पीने से अङ्ग पुष्ट होते हैं" इसके विज्ञान को नहीं जानते, तो मान लो कि किसी स्थान व देश में दूध प्राप्य ही नहीं है तो वहां हम अंगों की पुष्टि कैसे करेंगे? परन्तु यदि हम इसके विज्ञान को जानते हैं कि दूध में कौन २ पदार्थ ऐसे हैं जो शरीर को पुष्ट करते हैं तो दूध न मिलने पर भी दूध में रहने वाले जो पौष्टिक पदार्थ हैं उनका अन्वेषण दूसरी वस्तुओं में करके दूध के अभाव में उन्हीं वस्तुओं को काम में लाकर शरीर की पुष्टि कर सकेंगे। परन्तु यदि हम विज्ञान को बिना जाने ही केवल कर्तव्य-कर्म-कुशलता पूर्वक दूध पीकर अङ्ग पुष्ट करते हैं तो दूध न मिलने पर अङ्ग-पुष्टि असम्भव सी हो जायगी। अतः विज्ञान का जानना इतना ही अत्यावश्यक है जितना कि मनुष्य के लिये नेत्रों का होना। विज्ञान के बिना जाने कर्म-कुशलता द्वारा कार्य करना वैसा ही है जैसे बिना नेत्रों के टटोल २ के काम करना।

एक बात और भी है, वह यह कि संसार के दृष्ट पदार्थों में तो बिना कर्तव्य-कर्म-विज्ञान जाने भी केवल कर्तव्य-कर्म-कुशलता से काम चल सकता है, परन्तु धार्मिक व सदाचार सम्बन्धी कर्मों का विज्ञान बिना जाने तो बिल्कुल काम चल ही नहीं सकता। जैसे दूध पीने से अङ्ग पुष्ट होते हैं यह तो प्रत्यक्ष देखने में आता है,

इसलिये बिना इसका विज्ञान जाने भी फलप्राप्ति प्रत्यक्ष होने से लोगों की श्रद्धा दूध पीने में हो व रह सकती है, परन्तु धर्म कार्यों में फल की प्राप्ति बहुधा अप्रत्यक्ष रहती है, इसलिये विना उनका (धर्म व सदाचार कार्यों का) पूर्ण विज्ञान जाने कभी किसी को आस्था धर्म कार्यों पर चिरस्थायी नहीं रह सकती, अतः धार्मिक विषयों में तो उनके विज्ञान को जानना अनिवार्य्य ही है।

विज्ञान व कौशल की व्याख्या हो गई। अब सदाचार किसको कहते हैं इस पर विचार करके देखते हैं तो यही सिद्ध होता है कि सदाचार वह है जिससे हमको यह शिक्षा मिले कि संसार में सुख व शान्ति स्थापन करने व रखने के लिये एक दूसरे के साथ व पशु पक्षियों तथा अन्य प्राणियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये? सारांश यह कि प्राणिमात्र के कल्याण को प्राप्त करना सदाचार का उद्देश्य है।

सदाचार के लिये आचार, शुभ कर्म, धर्म व अच्छा चाल-चलन इत्यादि अन्य शब्द भी शास्त्र व लोक में व्यवहृत होते हैं।

उक्त व्याख्यान से विद्यार्थी समझ गये होंगे कि सदाचार विज्ञान से हमारा अभिप्राय केवल शुभकर्मों की सूची देना नहीं है, किन्तु उनका पारस्परिक सम्बन्ध, उपपत्ति व उनके अन्तर्गत सिद्धान्तों का विवरण देना है। जिससे कि सदाचार के सिद्धान्तों को समझकर

प्रत्येक विद्यार्थी स्वयं इस बात का निश्चय करने में समर्थ हो जाय कि किस देश, काल व अवस्था में क्या सदाचार (धर्म) व क्या अनाचार (अधर्म) है ।

संक्षेप से यहां यह कह देना उचित होगा कि सदाचार का प्रवर्तक प्रेम है, क्योंकि मनुष्यों में जब तक परस्पर हार्दिक प्रेम न होगा तब तक वे प्राणिमात्र के कल्याण की प्राप्ति (जो कि सदाचार का उद्देश्य है) के लिये यत्न क्यों करेंगे ? उक्त प्रेम आत्मा में अधिक देखा जाता है, क्योंकि स्त्री, पुत्र, धन आदि में जो प्रेम हुआ करता है वह अपने ही लिये होता है । परम प्रेम ही परमानन्द ब्रह्म है । अतः प्रेम को यदि परमात्मा कहा जाय तो उचित ही है ।

शास्त्रों में कहा भी है:—

"अयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः ।"

प्रेममय होने से परमात्मा की यह एक स्वाभाविक इच्छा है कि संसार सुखी रहे और सदाचार वह है जो परमात्मा की इच्छा के अनुकूल किया जाय । अतः यह सिद्ध हुआ कि जिस कार्य के करने में हम को सुख अर्थात् आनन्द की प्राप्ति हो वह कार्य सदाचार है । परन्तु सुख या आनन्द भी दो प्रकार के हैं एक नित्य सुख या नित्यानन्द दूसरा अनित्य सुख या अनित्यानन्द । अतः वे सब कार्य जो हमको सुख दें, सदाचार के अन्तर्गत नहीं हैं

अथवा वे सब कार्य जो हम को दुःख दें, दुराचार नहीं हैं। किन्तु जिन कार्यों के करने से हम नित्य सुख की प्राप्ति की ओर बढ़ते हैं वे ही कार्य सदाचार सम्बन्धी कार्य कहलाते हैं, और अन्य जो नित्य सुख की प्राप्ति में बाधक हों, वे दुराचार सम्बन्धी कार्य कहलाते हैं। जिस प्रकार से गाड़ी के पहिये बैल के पीछे २ चलते हैं वैसे ही आपत्ति दुराचार का अनुगमन करती है। पापों का फल करते समय भले ही मीठा लगे; परन्तु परिणाम में दारुण ही सिद्ध होता है। कुपथ्य करते समय रोगी को भले ही सुखाभास हो; परन्तु परिणाम में कुपथ्य का फल बुरा ही सिद्ध होता है।



प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभारत, शान्ति पर्व)

सब प्राणियों की उन्नति के लिये धर्म का निर्णय किया गया है। इसलिये जो उन्नति का कारण है, वही धर्म है।

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभारत, शान्ति पर्व)

सब वस्तुओं को अपने अपने रूप में धारण करने के कारण इसका नाम धर्म है। अतः जो धारण अर्थात् रक्षा करनेवाला है, वही धर्म है।

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभारत, शान्ति पर्व)

जीव मात्र की अहिंसा के लिये धर्म की व्याख्या की गयी है। अतः जो अहिंसा से युक्त है, वही धर्म है।

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥

(महाभारत, शान्ति पर्व)

जो सदा सब का मित्र है और जो सदा सब की भलाई करनेवाला है, हे जाजले! मन, वचन और कर्म से तुम उसी को धर्म समझो।

× × × × × ×

न कुर्यात् कर्हिं चित् संगं तमस्तीव्रं तितीरिषुः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम्॥

(भागवत, ४।२२)

भयङ्कर अन्धकार को पार करनेवालों को चाहिये कि वे उस कुसङ्ग को कभी न करें, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का परम शत्रु है।

तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते ।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः ॥

(भागवत, ४।२२)

इन चारों में भी अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में मोक्ष ही सर्वश्रेष्ठ है। बाकी तिनों, जिनको त्रिवर्ग कहते हैं, भय से रहित नहीं हैं।

× × × × × ×

धर्मं चार्थं च कामं च यथावद् वदतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञः सर्वान् सेवेत पण्डितः ॥
मोक्षो वा मरणं श्रेय एषां राजन् सुखार्थिनाम् ॥

(महाभारत, वन पर्व)

कालज्ञ विद्वान् को चाहिये कि वे देश काल के अनुसार विभाग कर धर्म, अर्थ और काम का भी सेवन करें। किन्तु हे राजन्! सच्चे सुख चाहनेवालों के लिये मोक्ष ही सर्वोत्तम वस्तु है।



प्रथम अध्याय के प्रश्न।

१ विज्ञान क्या है ?
२ कर्तव्य कर्म-कुशलता क्या है ?
३ सदाचार क्या है ?
४ सदाचार-विज्ञान का क्या तात्पर्य है ?
५ सदाचार के पर्यायवाचक शब्द कौन २ हैं ?
६ सदाचार का उद्देश्य क्या है ?
७ "परमात्मा प्रेम-मय है" इसको युक्ति व शास्त्र द्वारा सिद्ध करो
८ "कर्म" व "अकर्म" क्या है ?

द्वितीय अध्याय।

सदाचार का धर्मानुकूल आधार।

प्रथमाध्याय में कह आये हैं कि सदाचार का प्रवर्तक प्रेम है और परम-प्रेम ही परमानन्द अर्थात् परब्रह्म अथवा परमात्मा है, तो इस से यह सिद्ध हुआ कि परम-प्रेम, परमानन्द, परब्रह्म व परमात्मा में कोई वास्तविक भेद नहीं है, किन्तु ये सब एक ही पदार्थ हैं। जिस प्रकार प्रेम परम प्रेम ही का अंश है उस से कोई भिन्न पदार्थ

नहीं है इसी प्रकार आत्मा परमात्मा ही का अंश है उस से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है ।

विद्यार्थियों को विदित होना चाहिये कि सृष्टि मात्र में आत्मा एक ही है । "एकमेवाद्वितीयम्" ही हिन्दू शास्त्रों का परम सिद्धान्त है । देखने में निस्सन्देह बहुत आत्मा दिखाई देते हैं, परन्तु वस्तुतः वे सब एक ही के बिम्ब हैं । उनका भेद अस्थायी व अभेद स्थायी है । जैसे कई घड़े यदि किसी तालाब में डुबो दिये जायँ तो वह पानी, जिसमें घड़े भरे गये हैं, एकही है, परन्तु घड़े अलग २ हैं । उसी प्रकार बहुत से शरीर इस जीवन के समुद्र में डुबो दिये गये हैं, परन्तु शरीर अनेक होते हुए भी जो जीवन उनमें भरा है वह एक ही है । धर्म का यह प्रथम सिद्धान्त सदाचार का आधार है ।

इस लिये सदाचार विज्ञान में हमारे लिये आत्मा का एकत्व अङ्गीकार करना नितान्त आवश्यक है, परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है । क्योंकि जहां एकत्व है वहां "मैं तू, वह, वे" इत्यादि भेदबुद्धि कहां ? परन्तु सदाचार विज्ञान में तो उक्त भेद बुद्धि बिना काम चल ही नहीं सकता । इस लिये हम को यह भी स्वीकार करना होगा कि अनात्मा में अनेकता है । अर्थात् संक्षेप यह है कि प्रकृति के बने हुए शरीर भिन्न २ हैं परन्तु उनके अन्दर आत्मा एक ही है । या यों कहो कि भेद प्राकृतिक वस्तुओं में व अभेद आत्मा में है । प्रत्येक प्राकृतिक शरीर में

एक ही आत्मा प्रतिबिम्बित है।

संसार में अनेक शरीर और अनेक मन हैं और शरीर व मन एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं, जब त प्रत्येक मन व शरीर परस्पर इस सिद्धान्त के अनुस व्यवहार न करें कि उन सब का मूल एक ही है तब त उन का कोई भी कार्य सदाचार नहीं हो सकता जिस कार्य से संसार भर का कल्याण हो वही का वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण कारक है, और कार्य किसी एक व्यक्ति के लिये हानिकारक है, व वस्तुतः संसार भर के लिये हानिकारक है। यदि ह किसी दूसरे को हानि पहुंचाते हैं तो वस्तुतः अपनी हानि करते हैं। यदि एक हाथ अपने उसी शरीर के जिसका कि वह अङ्ग है-पावों को काट डाले तो रुधि अवश्य पाओं से निकलेगा, हाथ से नहीं; परन्तु हाथ शीघ्र ही निर्वल हो जायगा। क्योंकि रुधिर सब शरीर घूमता है और शरीर के सब अङ्गों को रुधिर की प्राप्ति ए ही स्थान से होती है। इसी प्रकार से मनुष्यों की स्थिति है। यदि एक आदमी दूसरे को घायल करता है तो घायल करने वाले की उतनी ही हानि होती है जितनी घायल की। केवल भेद इतनाही है कि घायल करने वाल अपनी हानि बहुत काल के अनन्तर समझने लगता है।

अतः बुद्धि द्वारा यदि निश्चय किया जाय तो यह उपर्युक्त सिद्धान्त सदाचार का मूल प्रतीत होगा। विद्या

र्थियों को न तो समय ही है और न अभी इतनी योग्यता ही है कि कौन कर्म सदाचार है, कौन नहीं, इसका विचार स्वयं कर सकें। अतः उनको उचित है कि पहले महर्षियों के कथनानुसार जोकि शास्त्रों में दिये हैं सदाचारविज्ञान पर विश्वास व श्रद्धा करें। परन्तु जब वे उन पर विचार करने योग्य हो जायँ तब महर्षियों द्वारा प्रतिपादित सदाचार सबन्धी कर्मों व सिद्धान्तों पर बुद्धिद्वारा विचार करें।

एक ही आत्मा सब के अन्दर है। प्रत्येक जीवात्मा उसी एक आत्मा का अंश या बिम्ब है। इस सिद्धान्त को अपने २ हृदय में सब को अच्छी तरह से अङ्कित कर लेना चाहिये, और प्रत्येक व्यक्ति को यह स्मरण रखना चाहिये कि जो दूसरे को कष्ट देता है वह वस्तुतः अपने आप को ही कष्ट देता है। भगवान् श्री कृष्ण का कथन है 'हे गुडाकेश' ! सब के हृदय में स्थित मैं आत्मा हूं, और प्राणिमात्र का आदि, मध्य व अन्त हूं !



एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वेत० उप० ६।२)

एक ही देव सब में छिपे हुए हैं। वे सर्वव्यापक और सब भूतों के अन्तरात्मा हैं। कर्मों के अध्यक्ष वे हैं और सब भूतों में उन्हीं का अधिवास है। वे साक्षी चेतन हैं अद्वितीय और निर्गुण हैं।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा।
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥
(कठ० ४ वल्ली)

एक ही सब भूतों का आत्माराम सब में अनेक रू से विराजमान है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(ईशोपनिषद्)

जो सब जीवों को अपने में देखता है और अपने को सब में देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता।

जिस अवस्था में विद्वान् के लिये अखिल जीव अपने ही आत्मा के समान हो जाते हैं, ऐसी अवस्था में एकत्व को देखनेवाले के निकट क्या मोह है और क्या शोक है?

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

(गीता, अ० ६)

जिनका आत्मा योगयुक्त है, और जो सर्वत्र समदर्शी हैं, वे सब जीवों को अपने में देखते हैं और अपने को सब जीवों में देखते हैं ।



द्वितीय अध्याय के प्रश्न ।

१ सदाचार का आधार क्या है ?
२ सिद्ध करो कि आत्मा एक है और उसमें अभेद दृष्टि स्थायी व भेददृष्टि अस्थायी है ।
३ धर्म का प्रथम सिद्धान्त क्या है ?
४ यदि आत्मा एक है तो अनेक बुद्धि अर्थात् "मैं," "तू" इत्यादि का व्यवहार सदाचार-विज्ञान में अनावश्यक क्यों नहीं ?
५ सदाचार-विज्ञान में भेददृष्टि भी क्यों व कैसे सहायक है ?
६ सदाचारी बनने के लिये किस सिद्धान्त को व क्यों उस सिद्धांत को हृदय में अङ्कित कर लेना चाहिये, बिना उस सिद्धान्त के अङ्कित किये ही सदाचारी बनने का प्रयत्न करने में क्या हानि है ?
७ क्या यह ठीक है कि यदि हम किसी दूसरे की हानि करते हैं तो वस्तुतः अपनी ही हानि करते हैं ? यदि ठीक है तो कैसे ?

८ धर्म व सदाचार के तत्वों को बिना बुद्धि द्वारा समझे। केवल शास्त्रों का कथन स्वीकार करते हुए क्यों सदाचारी बन चाहिये ?

९ इस अध्याय में सदाचार की सहायक स्मरण रखने यो क्या क्या बातें हैं ?

१० भगवान् श्री कृष्ण की आत्मा के विषय में क्या सम्मति है।

तृतीय अध्याय ।

सत्य और असत्य या पुण्य और पाप ।

यह दो शब्द सत्य और असत्य अथवा पुण्य औ पाप प्रत्येक व्यक्ति के मुँह पर चढ़े हुए हैं, परन्तु प्रत्ये व्यक्ति यह नहीं बता सकता कि इन दोनों शब्दों वस्तुतः क्या अर्थ व तात्पर्य है। आओ हम इन समझें।

हम ने देखा है कि हम को विशेष कर तीन लोकों सम्बन्ध है, जिनको कि त्रिलोकी कहते हैं। हम जानते कि त्रिलोकी की उत्पत्ति ब्रह्मा से, पालन पोषण विष्णु व संहार शिव द्वारा होता है। आओ हम एक

त्रिलोकी पर विचार करें। सब जीव आगे बढ़ते हैं अर्थात् दिन प्रतिदिन उन्नति करते हैं। बहुत मूर्त्त पदार्थ प्रकट होते बढ़ते और विकाश को प्राप्त होते हैं। वे परस्पर एक दूसरे से भिन्न २ होते जाते हैं और पृथक् २ व्यक्तित्व में विकसित होते हैं। जो अनुभव वे प्राप्त करते हैं उसी के अनुसार बढ़ते हैं। वे अपने शरीरों व मनों की वृद्धि उन पदार्थों से करते हैं जो उनको अपने से पृथक् संसार में मिलते हैं, और उन सब को वे स्वार्थपरताही से ग्रहण करते हैं। इसको प्रवृत्तिमार्ग कहते हैं, अर्थात् आगे जाने का मार्ग। इस मार्ग में जीवात्मा जो कुछ बाह्य पदार्थ पाता है उन के द्वारा अपने भिन्न व्यक्तित्व को पुष्ट करता जाता है और उस में उसका "मैं" अर्थात् अहमत्व बलिष्ट होता जाता है। जब यह कार्य सम्पूर्णतया सम्पन्न हो जाता है, तो जीवात्मा को यह शिक्षा प्राप्त होने का अवसर होता है कि वह स्वयं केवल एक बड़े भारी अहमत्व का अंश व बिम्ब है जिसको कि ईश्वर कहते हैं, और उस की सब शक्तियां सुखसम्पादन तभी कर सकती हैं जब कि उनका उपयोग उस बड़े अहमत्व के अंश रूप से ही किया जाय। ऐसा करने से वह भेद में अभेद देखने लगता है और अपने एक छोटे से भिन्न व्यक्तित्व से उदासीन होकर अद्वितीय आत्मा का अनुभव करने लगता है। तब वह अपने समस्त संगृहीत पदार्थों को सब प्राणिमात्र के सहित भोगने व समष्टि में सर्वस्व

होम कर देने की इच्छा करता है। इसको निवृत्ति मार्ग अर्थात् वापस होने का मार्ग कहते हैं। इस मार्ग पर जीवात्मा ब्रह्माण्ड मात्र में अभेद का अनुभव करने सर्वस्व को प्राणि मात्र के साथ भोग करने की इच्छा करता है।

इन दोनों मार्गों के गतिस्थान को संसार कहते और संसार के इन मार्गों पर विष्णु के स्वरूप में ईश्वर की इच्छा ब्रह्माण्ड में पथप्रदर्शक है। ईश्वर की इस इच्छा के अनुकूल कार्य करना पुण्य व उसके प्रतिकूल कार्य करना पाप है।

ब्रह्माण्ड समष्टिरूपेण विकास स्थिति पर है, जहां कि प्रवृत्ति मार्ग निवृत्ति मार्ग में बदल जाता है। बहुत से लोग अभीतक प्रवृत्ति मार्ग पर हैं, परन्तु उन के अग्रसर होने का मार्ग व उच्च उन्नति की कक्षा निवृत्ति मार्ग की अवलम्बिनी होती है। इसलिये सदाचार वह है जिस में हमारी इच्छाएं, विचार व कर्म ऐसे हों जो हमें निवृत्तिमार्ग अर्थात् एकता की ओर ले जाँय। हमारा ध्येय एकता को बढ़ाना व भेदभावको घटाना होना चाहिये। जो कुछ भेद भाव को घटाये और अभेद भाव को बढ़ाये वह सब पुण्य व इसके विपरीत पाप है लेकिन पशुओं, असभ्य व्यक्तियों, अवनत व अविकसित जीवात्माओं के लिये (जिनका व्यक्तित्व अभी बहुत निर्बल है) भेदभाव रखना निहायत आवश्यक है

और जो उन्नत जीवों के लिये पुण्य व पाप है वह उन के लिये पुण्य पाप नहीं है। इसी लिये कहा जाता है कि सदाचार का सम्बन्ध देश, काल व पात्र के साथ अनिवार्य्य है, यह हमारी क्रमोन्नति कक्षा के अनुसार ही होनी चाहिये।

भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "सदाचार अत्यन्त सूक्ष्म है, मैं तुम को केवल वेदवचनों द्वारा नहीं, किन्तु बुद्धि व अनुभव ने जैसे उन वेदवचनों का अर्थाभ्यास किया है तदनुसार उपदेश देता हूं"। कोई भी इस संसार-यात्रा को उचित रीति से समाप्त नहीं कर सकता यदि वह देश, काल व पात्र के सम्बन्ध से रहित सदाचार का अवलम्बन करता है। धर्म-पुस्तकों के मूल वचनों का मनन अति सावधानतया बुद्धि द्वारा करना चाहिये, नहीं तो उन के सच्चे अर्थाभ्यास में कभी भी सफलता नहीं होती। प्राचीन समय में उशना ने भी इसी सच्चे सिद्धांत का उपदेश किया था कि वे धर्म पुस्तकें नहीं हैं यदि वे तर्कानुसार न हों। सन्देह युक्त ज्ञान अज्ञान से किसी प्रकार भी उत्कृष्ट नहीं है। सदाचार सम्बन्धी विधि व निषेध वाक्य जो देश काल व पात्र के विवेक से शून्य हैं केवल पाप व अवनति के पथ की ओर ले जाते हैं। एक समय में जब बहुत समय तक अकाल पड़ा तो विश्वामित्र ऋषि ने अभक्ष्य मांस एक चाण्डाल से लिया और अपने कार्य को न्याय-सम्मत सिद्ध करने के लिये उसी

मांस से देवताओं को बलि देकर उनको उस बलि
ग्रहण करने के लिये वाध्य किया। क्षमा संन्यासी
लिये धर्म है परन्तु राजा के लिये सदैव धर्म नहीं है
राजा उन अपराधों को क्षमा कर सकता है जो उस
अपने सम्बन्ध के हों। यदि वह अपना व अपने देश
कल्याण चाहता है तो छोटे से छोटा अपराध भी
उसकी नीच से नीच भी प्रजा के विरुद्ध किया गया हो
क्षन्तव्य नहीं है। अवध्य को वध करने से जो पाप होत
है वही पाप वध्य का वध न करने से होता है। रा
का धर्म है कि सब प्रजा का कर्तव्य कड़ाई से उन
पालन करावे। यदि वह ऐसा न करेगा तो वे निरंकु
होकर भेड़ियों की तरह इधर उधर गुर्राते, निर्बलों
मारते व एक दूसरे को हड़प करते हुए इधर उधर घूम
फिरेंगे। प्राचीन समय में किसी ने कहा है "वही केव
पत्नी है जो मधुरभाषिणी है, वही केवल पुत्र है
पिता को आनन्द दे, वही केवल मित्र है जिस पर नितां
विश्वास किया जा सके, वही केवल मातृभूमि है ज
जीविका निर्वाह हो सके, वही केवल राजा है जो कड़ा
से किन्तु न्यायपूर्वक शासन करे व जिसके राज्य
धर्मात्माओं को कोई भय न हो और जो अनाथों की र
व दुष्टों का दमन करे।"

आश्रम व वर्णों का यही तात्पर्य है कि प्रत्येक आश्र
व वर्ण वाला यह समझ सके कि जिस आश्रम व व

में वह है उस के देश कालानुसार कौन २ धर्म उसका कर्तव्य है । इस प्रकार से उसकी क्रमोन्नति में उक्त आश्रम व वर्ण सहायक होते हैं । प्रत्येक व्यक्ति को शक्ति व बुद्धि नहीं है कि वह अपने लिये ईश्वर की इच्छा को ढूंढ सके। इस वास्ते शास्त्र हमको दिये गये हैं, जिनके द्वारा हम उस इच्छा को जान सकते हैं और पुण्य व पाप में भेद समझ सकते हैं । व्यास व अन्य महर्षियों ने और भी कई सामान्य नियम दिये हैं। लेकिन व्यास व अन्य महर्षियों ने कई एक सामान्य नियम शास्त्रों में इस लिये दिये हैं कि जहां २ पर सदा-चार-तत्त्व-व्याख्या अपूर्ण व अस्फुट हो वहां २ उक्त नियमों द्वारा धर्माधर्म निश्चय हो सके। इस लिये विशेष नियम जो शास्त्रों में दिये हैं उनका उपयोग न तो सहल ही है न आवश्यक ही । वे नियम निम्न लिखित हैं:—

"दूसरे को सुख देना पुण्य व दुःख देना पाप है"

"जो काम अपने लिये हानिकारक समझते हो और चाहते हो कि तुम्हारे साथ कोई वैसा व्यवहार न करे वह काम व व्यवहार तुम दूसरे के साथ मत करो । जो कुछ तुम अपने लिये चाहते हो वही व्यवहार तुम दूसरों के साथ करो ।"

"कोई काम ऐसा न करो जो दूसरों के लिये हानि-कारक हो व तुम्हारे लिये लज्जाजनक हो"

"जो कार्य तुम्हारे लिये अच्छा नहीं है वह दूसरे के लिये मत करो"



अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम् ॥
यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ।

(महाभारत शान्तिपर्व)

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथञ्चन ॥

(महा० शान्ति०)

अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत् ॥

(याज्ञवल्क्य)

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि न परेभ्यः समाचरेत् ॥

(व्यास)

× × × ×

सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्श्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥

(मनु० अ० १२)

वैदिक कर्म दो प्रकार के हैं—प्रवृत्त और निवृत्त । प्रवृत्त कर्म सुख और अभ्युदय को देनेवाले हैं और निवृत्त कर्म निश्श्रेयस (मुक्ति) को देनेवाले हैं । इस संसार में अथवा परलोक में सुख के लिये जो काम्य कर्म किये जाते हैं, उन्हें प्रवृत्त कहते हैं और जो ज्ञान पूर्वक निष्काम कर्म किये जाते हैं, उन्हें निवृत्त कहा जाता है ।

प्रवृत्त कर्म के करने से मनुष्य देवता तक बन सकता है; किन्तु निवृत्त कर्म करता हुआ पञ्च भूतों को अतिक्रमण कर मुक्त हो जाता है ।

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगाह्रासानुरूपतः ॥

(महा० शान्ति०)

सत्ययुग के धर्म भिन्न हैं, त्रेता के और द्वापर के भी धर्म अन्य हैं तथा कलियुग के भी धर्म दूसरे हैं, युग के ह्रास के अनुसार धर्म का भी ह्रास होता जाता है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता)

जिसके कारण सब जीवों की प्रवृत्ति हो रही है और जिससे समस्त संसार की सृष्टि हुई है, अपने कर्मों से उसकी पूजा कर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता)

दूसरों के धर्म को अच्छी तरह करने की अपेक्षा विगुण जान पड़ता हुआ भी स्वधर्म (स्वाभाविक धर्म

अच्छा है। स्वभाव ने जिस कर्म को निर्धारित कर दिया है, उसका अनुष्ठान करने से कुछ भी पाप नहीं लगता।

हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित होकर सब जीवों को यन्त्रारूढ बनाकर अपनी माया से घुमाया करता है।

हे भारत! हर प्रकार से उसी की शरण पकड़ो। उसकी ही कृपा से तुम उचित शान्ति और शाश्वतिक स्थान को पावोगे।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

(मनु० अ० २)

सम्पूर्ण वेद और वैदिक विद्वानों की स्मृति और आचरण, सत्पुरुषों का आचार और जिस कर्म के करने से अपने को सन्तोष है, ये सब धर्म के मूल हैं।



तृतीय अध्याय के प्रश्न।

१ पुण्य व पाप अथवा सत्य व असत्य के विषय में तुम क्या जानते हो?

२ त्रिलोकी किसको कहते हैं?

३ ब्रह्मा, विष्णु व शिव कौन हैं और उनका सृष्टि से क्या सम्बन्ध है?

४ उक्त त्रिलोकी के सिवा तुम ने किसी और त्रिलोकी के वि[षय] में भी कभी सुना है? यदि सुना है तो क्या?

५ प्रवृत्ति व निवृत्ति मार्ग क्या हैं और उन से जीव को क[्या] हानि व लाभ पहुंचते हैं?

६ स्वार्थ व परमार्थ को उदाहरणों द्वारा विशद रीत्या समझाओ।

७ संसार किसको कहते हैं?

८ संसार में क्या कोई हमारा पथप्रदर्शक है? यदि है, [तो] कौन व कैसे?

९ विकास स्थिति किसको कहते हैं? सिद्ध करो कि संस[ार] सदैव विकास स्थिति पर है!

१० निवृत्ति, प्रवृत्ति, विकास व संसार का सदाचार से क[्या] सम्बन्ध है?

११ जीव का ध्येय क्या होना चाहिये?

१२ क्या भेद बुद्धि भी किसी का ध्येय होना चाहिये? यदि चाहि[ये] तो किसका व क्यों?

१३ सदाचार का देश काल व पात्र से भी क्या कोई सम्बन्ध है? यदि है तो क्या व क्यों?

१४ सदाचार से देश काल व पात्र का सम्बन्ध होना चाहि[ये] कि नहीं इस विषय में भीष्म ने युधिष्ठिर को क्या उपदे[श] दिया था?

१५ शास्त्रों का अर्थ किस प्रकार से समझना व करना चाहिये, इस विषय पर भीष्म व उशना की क्या सम्मत्तियाँ हैं ?
१६ सदाचार देश काल व पात्रानुकूल ही होना चाहिये इस के समर्थन के लिये विश्वामित्र ने क्या किया था ?
१७ कोई उदाहरण देकर सिद्ध करो कि जो बात एक व्यक्ति के लिये धर्म है वही बात दूसरे के लिये अधर्म है !
१८ राज-धर्म का संक्षेप से दिग्दर्शन कराओ !
१९ आश्रम व वर्णों से सदाचार को कैसे सहायता मिलती है ?
२० शास्त्र सदाचार में कैसे सहायक हैं ?
२१ व्यासादि महर्षियों ने क्या सदाचार है व क्या नहीं इसकी परीक्षा के लिये क्या नियम बनाये हैं ?

चतुर्थ अध्याय ।

सदाचार की परीक्षा (माप)

हम पढ़ चुके हैं कि यद्यपि बहुत जीव अभी इस उच्च गति तक नहीं पहुंचे हैं; तथापि हमारे कर्म सदाचार से सम्बन्ध रखते हैं कि नहीं, इसकी कसौटी प्रस्तुत क्रमोन्नति कक्षा पर एकता ही है। बहुधा हम अपने प्रत्येक

कर्म की परीक्षा यह प्रश्न करके कर सकते हैं कि क्या हमारा अमुक कर्म एकता उत्पन्न करता है? (अभे दृष्टि को बढ़ाता है?) अथवा क्या हमारा अमुक क अनेकता को वढ़ाता है? (भेद दृष्टि को वढ़ाता है? यदि प्रथम प्रश्न का उत्तर "हां" हो तो हमारा वह क सदाचार युक्त अथवा पुण्य कर्म है, यदि दूसरे प्रश्न उत्तर "हां" हो तो हमारा वह कर्म सदाचार रहित अथ पाप कर्म है। इसी लिये प्रथम अध्याय में यह कहा ग है कि सदाचार द्वारा मनुष्यों को यह शिक्षा मिलती कि उनको परस्पर व अपने आस पास के जीवों के सा सहानुभूति पूर्वक किस प्रकार रहना चाहिये। सहानुभू पूर्वक जीवन निर्वाह ही से एकता बढ़ती है इसी लिये भ वद्गीता में जब भगवान् श्री कृष्ण आसुरी व दैवी सम्पत्ति का वर्णन करते हैं तो हम देखते हैं कि उन्होंने एक उत्पन्न करनेवाले कार्यों की दैवी व अनेकता उत्प करनेवाले कार्यों की आसुरी सम्पत्तियों में गणना है। यथा, "निर्भीकता, पवित्र जीवन, निश्चल बुद्धि, दा संयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, ऋजुता, अहिंसा, सत्य अक्रोध, वैराग्य, शान्ति, सरल स्वभाव, जीवों पर दया अलोभ, नम्रता, शील, शक्ति, दया, धृति, पवित्रता, द्वे भाव व अभिमान का न होना" इत्यादि पुण्य कर्म मनु ष्यों में एकता उत्पन्न करते हैं और इसी ज्ञान पर आश्रि हैं कि सब आत्माएं एक हैं। दूसरी ओर देखो कि अ

कर्म मनुष्यों को एक दूसरे से भिन्न करते व अनेकता की वृद्धि करते हैं उनको भगवान श्रीकृष्ण ने आसुर कर्म बताया है। यथा-दम्भ, मद व अभिमान, क्रोध और क्रूरता व मूर्खता इत्यादि। राक्षस का वर्णन जो भगवान् श्री कृष्ण ने किया है उस से यही प्रतीत होता है कि जो परम स्वार्थी, व अभिमानी है उसी को श्रीकृष्ण राक्षस के नाम से पुकारते हैं।

विद्यार्थियों को चाहिये कि पुण्य व पाप के इस भेद को भली प्रकार अपने हृदय में अङ्कित कर लें और इसी को अपने आचरण का पथ प्रदर्शक बना लें। तदनन्तर उत्तरोत्तर अध्ययन द्वारा उनके पुण्य व पाप सम्बन्धी विचारों में वृद्धि होती जायगी, इस विषय के विस्तृत विवरण वे जान लेंगे और कई जटिल समस्याओं को वे सुलझालेंगे। परन्तु यह उपरोक्त सिद्धान्त अटल रहेगा। क्योंकि यह संसार क्रमोन्नति पर आश्रित है और ईश्वर की इच्छा के अनुकूल है।



अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान-योग-व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागःशान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोभत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाभिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ॥
(गीता, १६ अ०)

अभय, सत्वशुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दा
दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, क्रो
न करना, त्याग, शान्ति, चुगली न खाना, सकल प्राणि
पर दया, लोभ न करना, कोमलता, लज्जा, चपलता
होना, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, द्रोह और अभिमान
करना, इत्यादि गुण दैवी सम्पत्तिवाले पुरुषों में पा
जाते हैं ।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥
(गीता, १६ अ०)

पाखण्डपना, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता औ
अज्ञान इत्यादि आसुरी सम्पत्तिवाले पुरुषों में पा
जाते हैं ।

सर्वेषामपि चैवेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥
सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ॥
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ।

(मनु, १२ अ०)

समस्त मोक्षसाधक कर्मों में आत्मज्ञान ही सर्व-श्रेष्ठ है । यह सब विद्याओं में प्रधान है, क्योंकि इसी से मुक्ति मिलती है । संसार में सत् या असत् जो कुछ पदार्थ हैं, उन सबको समाहित होकर आत्मा में ही देखे । सब कुछ आत्मा में देखने वाला अनुचित काम की तरफ मन नहीं ले जा सकता । सकल देवता आत्मा के ही स्वरूप हैं सब कुछ आत्मा में ही विद्यमान है । इस प्रकार जो स्वयं अपने को सब भूतों में देखता है वह सबकी समानता को प्राप्त कर पर ब्रह्म पद को पाता है ।

चतुर्थ अध्याय के प्रश्न ।

१ अमुक कर्म सदाचार के अन्तर्गत है या नहीं इसकी परीक्षा कैसे हो ?
२ उक्त परीक्षा के लिये क्या प्रश्न करने चाहिये ?
३ एकता किस प्रकार से बढ़ती है ?

४ दैवी व आसुरी कर्मों का विभाग भगवान् श्री कृष्ण ने कि
. सिद्धान्त पर किया है ? और वे कौन २ हैं ?
५ भगवान् श्री कृष्ण के मतानुसार राक्षस कौन है ?
६ इस अध्याय में विद्यार्थियों का क्या कर्तव्य बताया गया है

पञ्चम अध्याय।

पुण्य व उनका आधार।

हम को यह विदित है कि पारस्परिक बलिदा अथवा यज्ञ, जो कि पारस्परिक सेवा ही का नामान्तर हैं, सनातन धर्म के सिद्धान्तों में से एक है। यह पुण्य कर्म है। इसका जानना बहुत आवश्यक है, क्योंकि यह एकता बढ़ाता है। पञ्च महायज्ञ के करने वाले ऋषियों, देवों, पितरों, मनुष्यों और भूतों में एकता बढ़ाते हैं। पुण्य कर्म क्या हैं, यह समझाने के लिये सनातन धर्म हमको उन तीन ऋणों को, जो हमारे सिर पर हैं, सवि- वरण समझाता है। उन तीनों ऋणों के नाम हैं—ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण। ऋषिऋण वह है जो अध्ययन व गुरु सेवा द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम में दे दिया जाता है, पितृ ऋण वह है जो गार्हस्थ्याश्रम में कुटुम्ब पालन व दान

द्वारा दे दिया जाता है, देव ऋण वह है जो वानप्रस्थाश्रम में यज्ञ व ध्यान (समाधि) द्वारा देदिया जाता है।

ऋण वह है जो हमको किसी दूसरेका देना है। जो हमने लिया है उसे हमे दे देना चाहिये। इस ऋण को दे देना कर्तव्य (धर्म) पालन कहलाता है। कर्तव्य वह है जो हम को दूसरे के निमित्त करना चाहिये। कर्तव्य पालन पुण्य व कर्तव्य पालन न करना पाप है। पुण्यात्मा पुरुष अपने कर्तव्यों (धर्मों) को जानता है और उनको करता है। पापी पुरुष न उनको जानता है व न करता है।

पुण्यकर्म भीष्म के मतानुसार सत्य के रूपान्तर भी कहे गये हैं। क्योंकि सत्य वह है जो वस्तुतः ठीक है। इस लिये भीष्म कहते हैं कि सत्य ही नित्यरूप ब्रह्म है। दैवी प्रकृति को ही "सत्य" कहते हैं, और उस सत्य को हम उसके प्रतिबिम्ब में भी देखते हैं जिसको कि वाह्य प्रकृति के नाम से पुकारते हैं। सब प्रकृति के नियम सत्य के ही रूपान्तर हैं और निश्चल भाव से काम करते हैं।

सर्वोत्तम व सर्वोपरि सत्य, जैसा कि आगे कहा जा चुका है, यह है कि आत्मा एक है व शरीर अनेक हैं। दूसरे सब सत्य व नियम केवल इसलिये सत्य व नियम हैं कि वे इस अनेकता में उक्त सर्वोत्तम एकता के बिम्ब व नकल हैं। सदाचार में जो रूप इस

सर्वोपरि–सत्य का है, वह यह है कि हम में से प्रत्येक को दूसरों के लिये ऐसा ही सोचना चाहिये जैसा अपने लिये, अपने को वही समझना चाहिये जो दूसरे हैं। अथवा कम से कम सबको समान तो अवश्य समझना चाहिये। इस प्रकार से समझते हुए हमको सदैव सत्य बोलना चाहिये। क्योंकि दूसरे से झूठ बोलने का अर्थ यह है कि हम उसपर अविश्वास करते हैं, अपने से भिन्न अथवा विरोधी समझते हैं, और एक सामान्य ज्ञान जो कि सब को होना चाहिये उससे उसको वञ्चित रखते हैं। मिथ्याभाषण से, ज्ञानतः व अज्ञानतः जो हम इस प्रकार अनेकता फैलाते हैं, अनेक हानियां होती हैं व पापों का प्रादुर्भाव होता है। पुण्यकर्मों का यह विवरण सत्य का रूपान्तर है और हमारे सदाचार की परीक्षा के नियमों से मिलता है। क्योंकि सत्य से एकता व असत्य से अनेकता फैलती है।

हिन्दुओं के साहित्य में देखा जाय तो जिन साधु नायकों का वर्णन उसमें मिलता है उन सब में सत्यशीलता एक परम प्रधान गुण है। सब वीरों का प्रिय कथन यही मिलता है कि हमने असत्य भाषण कभी नहीं किया। इसी में वे अपने आप को गौरवान्वित मानते थे। महाभारत में श्रीकृष्ण ने शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की थी, और जब वे अर्जुन की रक्षा के लिये चाबुक लेके भीष्म पर दौड़े तो अर्जुन ने श्रीकृष्ण की

प्रतिज्ञापूर्ति के लिये उनकी मदद लेने से इन्कार किया। इसी प्रकार युधिष्ठिर ने भी, यद्यपि जीतने की आशा उनको न रही थी, तब भी, श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा के कारण उनकी सहायता लेना स्वीकार नहीं किया। दूसरी ओर हम देखते हैं कि जब अत्यन्त आवश्यकता के समय में युधिष्ठिर को द्रोणाचार्य के वध के निमित्त मिथ्या-भाषण करना पड़ा तो उनके रथ में जो पृथिवी को अस्पर्श करते हुए चलने की शक्ति थी वह नष्ट हो गई और उनके रथ के पहिये पृथिवी से स्पर्श करने लगे। जब पाण्डव अभी जङ्गल ही में थे और श्रीकृष्ण ने उनको यह सलाह दी कि वे कौरवों के विरुद्ध सेना भेजें तो युधिष्ठिर ने, यह समझ कर कि इस से १३ वर्ष वन में रहने की जो प्रतिज्ञा उन्होंने की थी वह मिथ्या होती है, यह उत्तर दिया कि "पाण्डु के पुत्र कभी सत्यपथ से च्युत न होंगे।" यदि हानि भी होती हो तो प्रतिज्ञा का पालन करना निहायत आवश्यक है। जब प्रह्लाद ने इन्द्र से त्रिलोकी का राज्य ले लिया तो इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप बनाकर प्रह्लाद की शिष्यरूपेण सेवा की। अन्ततः प्रह्लाद उससे इतना प्रसन्न हुआ कि जो वह मांगे, देने के लिये उद्यत हुआ। इन्द्र ने प्रह्लाद का चरित्र मांगा, प्रह्लाद ने (यद्यपि वह डरता था कि ऐसा करने से उसका नाश होगा, और हुआ भी ऐसा ही) दे दिया! क्योंकि उसने प्रतिज्ञा की थी।

जब सत्यवती ने भीष्म को उनकी प्रतिज्ञा के विरुद्ध राज्य लेने व विवाह करने को कहा तो भीष्म ने जो सुन्दर उत्तर दिया उसको कौन भूल सकता है: "मैं तीनों लोकों को छोड़ दूंगा, स्वर्ग का राज्य अथवा उससे भी उच्च वस्तु क्यों न हो, उसको भी मैं छोड़ दूंगा, परन्तु सत्य कभी न छोडूंगा। पृथिवी गन्ध छोड़ दे, जल द्रवत्व छोड़ दे, प्रकाश वस्तुओं का दिखाना छोड़ दे, वायु में स्पर्श शक्ति न रहे, सूर्य तेज रहित हो जाय, अग्नि में उष्णत्व न रहे, चन्द्र शीतल रश्मियों को छोड़ दे, आकाश से शब्द गुण जाता रहे, इन्द्र का बल नष्ट हो जाय, धर्म-राज न्याय करना छोड़ दें, किन्तु मैं सत्य न छोडूंगा।"

दृढतिज्ञ कर्णने स्वाभाविक धर्मके साथ जन्म ग्रहण किया था। देवता पांडवों के पक्षमें थे। पीछे महाभारतयुद्ध में अर्जुन उस स्वाभाविक धर्म के कारण ही कर्णको नहीं जीत सकते थे। इस भयसे देवता बड़े व्याकुल हुए। कर्ण का नियम था कि वह प्रतिदिन प्रातःकालसे मध्यान्ह तक पूर्वकी ओर मुख करके बैठा हुआ वेदका गान किया करता था; उसकी प्रतिज्ञा थी कि-उस समय कोई भी ब्राह्मण उसके समीप आकर जो कुछ माँगता था, वह उसको वही दिया करता था। एक दिन इन्द्र बूढ़े ब्राह्मणका वेष धरकर उसी समय पर आकर कर्ण से भिक्षा माँगने लगे। कर्ण ने कहा कि-यदि तुम्हारी माँगी हुई

वस्तु मेरे वशकी होगी तो मैं अवश्य ही दूँगा। तब इन्द्रने कहाकि–तुम मुझको अपना सहज धर्म दो। कर्ण ने कहा कि–तुम्हारे इस प्रकार की भिक्षा माँगने से मैं समझ गया कि तुम सरल स्वभाव के ब्राह्मण नहीं हो, साक्षात् देवराज इन्द्र ने पाण्डवों के मङ्गल की कामना से मुझसे यह भिक्षा माँगी है। खैर, जो कुछ हो। जब कि–"मैं देऊँगा" यह शब्द मुख से कहचुका हूँ, तब देना होगा ही। यह बात पलट नहीं सकती। यद्यपि मैं समझता हूँ कि–आपकी माँगी हुई वस्तु देने पर मुझको प्राण तक देने पड़ेगें; इतना ही नहीं, किन्तु प्राणों से भी अधिक जो कि मेरी, प्रिय अर्जुन को जीतने की इच्छा थी, वह भी पूरी नहीं होती है, पथापि मैं अपनी बात को नहीं पलट सकता। इतना कहकर कर्ण ने अपनी तलवार से उस सहजधर्म को शरीर से अलग करके इन्द्र के हाथ में दे दिया। उससे फल क्या हुआ? अर्जुन को जीतने से उनकी जो कीर्ति होती, आज भी उससे सौगुणी कीर्ति, दीर्घ जीवन और बड़े भारी नामके वे अधिकारी हो रहे हैं।

राजा दशरथ अयोध्यापुरीके स्वामी थे। एक दिन वे देवताओंकी सहायताके लिये असुरोंका नाश करनेको गये। उनकी स्त्री कैकेयी उस युद्धमें साथ ही गई थी। दैत्यों के साथ युद्ध करते समय जब राजा घायल होकर मूर्छित हो गये, तब कैकेयी ने उनको एकान्त स्थान में लाकर यत्न और शुश्रूषा के द्वारा उनकी मूर्छा दूर की।

इसके लिये राजा ने कैकेयी को दो वर देने की प्रतिज्ञा की थी। कैकेयी ने उस समय उन वरोंको न लेकर कहा कि मैं अपने इन वरोंको फिर कभी लेलूँगी। बहुत दिनों के अनन्तर जब राजा के बड़े पुत्र रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की तयारी हुई तब कैकेयी ने दासी कुब्जाकी सम्मति के अनुसार एक वर से रामजन्द्रजी का चौदह वर्ष के लिये वनबास और दूसरे वर से अपने पुत्र भरत का राज्यभिषेक मांगा। राजाने समझा कि यह वरदान देनेसे अवश्य ही मेरी मृत्यु होजायगी, तथापि सत्यका भंग होने के भय से वरदान देकर अपने आप मृत्यु के मुख में पड़े! सत्य का नाश होने की अपेक्षा प्राणों का नाश होना उन्होंने अच्छा समझा।

रघुकुल रीति सदा चलिआई।
प्राण जाहिं पर वचन न जाई॥

देवराज वलि स्वर्गको जीतकर त्रिलोकीके एकछत्र अधिपति वन गए थे। जब उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया तब विष्णुने वामन स्वरूप से उनके यज्ञमें जाकर तीन चरण भूमि की भिक्षा मांगी। दैत्य-गुरु शुक्राचार्य ने ऐसा दान करनेसे वलिको रोकना चाहा और कहा कि यह वामन स्वयं विष्णु हैं, तुझको छलके द्वारा बाँधनेको आये हैं। इसके उत्तरमें वलिने कहा कि-प्रह्लादका पोता झूठी बात कहना नहीं जानता, मैंने इस ब्राह्मणके बालकको

जो कुछ देने के लिये कह दिया है, वह अवश्य ही दूँगा। वालक चाहे विष्णु हो अथवा चाहे मेरा परम शत्रु ही क्यों न हो, इससे कुछ मतलव नहीं। जव वामन ने दोही पग में त्रिलोकी को नाप लिया तब वलि ने तीसरे चरण की भूमि के वदले अपना मस्तक अर्पण करके अपने सर्वनाश को ही महासंपत्ति माना। यह देख भगवान् विष्णु ने उसको आशीर्वाद देकर कहा कि समस्त धन संपदा गई, शत्रु के हाथ से वन्दी होना पड़ा, वन्धु वान्धव छोड़ दिये, गुरु ने बुराभला कहा, तब भी हे वली! तुमने सत्य का त्याग नहीं किया। अतः तुम धन्य हो। पुराणों में कहा है कि–इस महत्कार्य के कारण, जब पुरन्दर का इन्द्रपद पूरा हुआ तब वलि ने इन्द्रपदवी पाई।

सत्य ब्रह्मस्वरूप है, नृसिंहतापिनी उपनिषद् में लिखा है कि-'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म'। परब्रह्म ही सत्य और पुण्यस्वरूप है, अतः जो ब्रह्मको खोजते हैं उनको सत्यवादी वनना चाहिये। इस इसकारण वालकोंको सत्यवादी होना सबसे अधिक आवश्यक है।

जायमनो ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते।
यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः॥

(मनुटीका, कुल्लूकधृतवेदवचन)

ब्राह्मण जन्मते ही तीन ऋणों का ऋणी होता है। वे तीन ऋण ये हैं-देवऋण, पितृऋण, और ऋषिऋण। यज्ञ करनेसे देवऋण; सन्तान उत्पन्न करनेसे पितृऋण और सदा वेदका स्वाध्याय करनेसे ऋषिऋण छूटता है।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

(मनु०)

तीन ऋणोंको चुकाकर मोक्षमें मन लगावे, विना ऋणोंको चुकाये मोक्षकी चेष्टा करनेसे अधःपतन होता है। विधिपूर्वक वेदशास्त्रोंको पढ़कर धर्मसे पुत्रोत्पत्ति करके तथा अपनी शक्तिके अनुसार यज्ञ करके मोक्ष पाने के लिये मन लगावै।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथः॥
एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(गीता)

परस्पर सहायता करके परमश्रेय पाओगे। हे पार्थ! इस चक्रको छोड़कर जो अपने सुखको खोजता है उसका

जीवन पापमय जानो, इन्द्रियोंके आराममें ही मन रखता हुआ वह वृथा ही जीता है ।

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः ।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥
सत्यं धर्मस्तपो योगो सत्यं ब्रह्म सनातनः ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥
सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च ।
सर्वधर्माविरुद्धने योगेनैतदवाप्यते ॥
सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता ॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र ! सत्याकारास्त्रयोदश ॥

(महाभारत, अनुशासनपर्व १६२ अ०)

सत्य ही साधुओंका धर्म है, सत्य ही सनातनधर्म है । सज्जन सत्यको ही नमस्कार करते हैं, सत्य ही परम गति है, सत्य ही धर्म और तप है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है, सत्य ही योग जप है, सत्यको ही श्रेष्ठ यज्ञ कहा है, सत्य में ही सब प्रतिष्ठित हैं, सत्य ही नित्य और अविकारी है, सत्य ही अविनाशी है, यह सकल धर्मों के अविरोधी योग से प्राप्त होता है । समता, दम, अमत्सरता, क्षमा,

लज्जा, सहनशीलता, ईर्षा न करना, त्याग, ध्यान, आर्य-भाव, धैर्य, दया और अहिंसा यह तेरह सत्य के आकार हैं।

चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः ।
स्वधीता मनुजव्याघ्र ! सत्यमेकं किलैकतः ॥

(महाभारत, वनपर्व ६३ अ०)

अंग उपांगों सहित विस्तार के साथ सुन्दररीति से पढ़े हुए चारों वेद तराजू के एक ओर और केवल एक सत्य को दूसरी ओर रक्खो तो वेदों से सत्य भारी उतरेगा।

आत्मन्यापि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः ।
तस्मात्सत्सु विशेषण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥

(महाभारत, वनपर्व २९१ अ०)

मनुष्य का सत्मनुष्यों पर जितना विश्वास होता है उतना अपने ऊपर भी नहीं होता। इसी कारण मनुष्य सत्-जनों के साथ प्रेम करने की हरसमय इच्छा करते हैं।

सत्यं सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः
सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ते ।
सतां सद्भिर्नाफलः संगमोस्ति,
सद्भ्यो भयं नानुभवन्ति सन्तः ।

सन्तः सत्येन नयन्ति सूर्यं,
सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्
सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः॥

सत्-पुरुषों को सदा सनातनधर्म में प्रवृत्ति रहती है, साधु कभी खिन्न वा दुःखित नहीं होते हैं, साधुओं का समागम निष्फल नहीं होता है, साधु को देखकर साधु कभी भयभीत नहीं होते हैं। साधुओं के सत्य के बल से सूर्य का उदय होता है, साधुओं के सत्य के बल से पृथिवी ठहरी हुई है, साधु ही भूत भविष्यत् की गति हैं और साधुओं में साधु कष्ट नहीं पाते हैं।

यतः प्रभवति क्रोधः कामो वा भरतर्षभ।
शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वञ्च तद्वद्॥
लोभो मात्सर्यमीर्ष्या च कुत्साऽसूयाऽकृपा भयम्।
त्रयोदशैतेऽतिबलाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः॥

(महाभारत शांतिपर्व)

क्रोध, काम, शोक, मोह, विधित्सा, परासुता, लोभ, मत्सरता, ईर्षा, कुत्सा, असूया, अकृपा और भय ये तेरह मनुष्य के बड़े भारी शत्रु हैं।

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥

(मनु ८ अ०)

जिसके बोलते समय क्षेत्रज्ञ को आशंका नहीं होती है, देवता उससे दूसरे किसी को श्रेष्ठ नहीं कहते ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

(गीता २ अ०)

तेरा अधिकार कर्म करने में ही है, कर्मफलों में कदापि नहीं, कर्म फल की आशा को त्याग और अकर्मके संग से सदा बच ।

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म

सत्य परब्रह्मका स्वरूप और परम पवित्र है ।



पञ्चम अध्याय के प्रश्न—

१ यज्ञ अथवा बलिदान किस को कहते हैं ?
२ यज्ञ अथवा बलिदान पुण्य कर्म क्यों हैं ?
३ पञ्च महायज्ञ कौन २ से हैं और उनके विषय में तुम क्या जानते हो ?

४ पञ्च महायज्ञ पुण्यकर्म हैं, यह सिद्ध करो ।

५ तीन ऋण हमारे ऊपर कौन २ से हैं ? वे कब २ और किस २ प्रकार से चुकाए जाते हैं ? इनका वर्णन तुम्हारी पुस्तक में क्यों आया है ?

६ ऋण किसका नाम है ? कर्तव्य पालन किसको कहते हैं, कर्तव्य पालन पुण्यकर्म व कर्तव्य पालन न करना पाप कर्म क्यों व कैसे हैं ?

७ पुण्यात्मा व पापी कौन हैं ?

८ पुण्यकर्म के विषय में भीष्म की क्या सम्मति है ?

९ सिद्ध करो कि सब पुण्य कर्म सत्य ही के रूपांतर हैं ।

१० सिद्ध करो कि सत्य ही ब्रह्म व सत्य ही दैवी नियम व प्रकृति है ।

११ सर्वोपरि सत्य क्या है ?

१२ उक्त सर्वोपरि सत्य सदाचार में क्या रूप लेता है ?

१३ सदैव सत्य क्यों बोलना चाहिये ?

१४ असत्य से क्या हानि होती है, व क्यों ?

१५ सिद्ध करो कि "सब पुण्य कर्म सत्य ही के रूपान्तर हैं" यह सिद्धान्त सदाचार—परीक्षा के नियमों से मिलता जुलता है ।

१६ अर्जुन, व युधिष्ठिर के चरित्रों से उदाहरण देकर सिद्ध करो कि ये लोग अपनी हानि हो जाने के समय भी सत्य को नहीं छोड़ते थे ।

१७ सिद्ध करो कि हिन्दू-साहित्य में जितने सज्जन नायक वर्णित हैं उन सब का प्रधान ध्येय सत्य ही था और उन्होंने मिथ्या भाषण कभी नहीं किया और वे इसी में अपना गौरव समझते थे ।

१८ सिद्ध करो कि निम्न लिखित लोग सत्यसन्ध थे–

(क) प्रह्लाद (ग) कर्ण (च) बली
(ख) भीष्म (घ) दशरथ

१९ विद्यार्थियों को सदाचार में प्रधानतया क्या करने की चेष्टा करनी चाहिये ?

षष्ठ अध्याय ।

अतीन्द्रिय आनन्द और मनोविकार ।

हम पढ़ चुके हैं कि ईश्वर सत् चित् आनन्द रूप है और मनुष्य उसी का अंश है, इस लिये इस में भी उक्त तीनों गुण हैं । जब जीवात्मा स्थूल देह में घिर जाता है तो उसकी वह प्रकृति जो आनन्दमय है, सदैव सन्तोष प्राप्ति के लिये बहिर्गत सांसारिक वस्तुओं से संयुक्त हो कर आनन्द का अनुभव करने का यत्न किया करती है । यदि ये बहिर्गत चेष्टायें (इच्छायें) जीवात्मा को ऐसे पदार्थों से मिला देती हैं जिनके मिलने से उसको आनंद

मिलता है और वार २ वह उन्हीं पदार्थों से मिलना चाहता है तो इस मनोविकार का नाम प्रेम है। दूसरी ओर यदि ये इच्छायें जीवात्मा को ऐसे पदार्थ से मिला देती हैं, जिनके साथ मिलने से उसको कष्ट होता है और वह शीघ्र ही उन पदार्थों से विमुक्त होना चाहता है तो इस मनोविकार को द्वेष कहते हैं। प्रथम मनोविकार जीवात्मा और पदार्थ में आकर्षण शक्ति उत्पन्न करता है और द्वितीय विकर्षण शक्ति।

जीवात्मा इस प्रेम और द्वेष के सम्बन्ध में वारवार विचार करता है और धीरे २ अपने मनोविकारों को उचित पथ पर ले जाना सीख लेता है। जो मनोविकार इस प्रकार से बुद्धि के अधीन होकर ईश्वर की इच्छा के अनुकूल चलाये जाते हैं, वे पुण्य रूप में परिणत हो जाते हैं, और इस प्रकार मनोविकारों की शिक्षा मनुष्य के सदाचार विकास का हेतु हो जाती है। क्योंकि वह मनुष्य प्रेम रूपी मनोविकार को उत्पन्न करता है। इस लिये वह प्राणियों के सदैव वढ़ने वाले केन्द्र के साथ अपने आपको मिलाता जाता है। जैसे कुटुम्ब, जाति, इत्यादि। वह सबको अपने समान प्रेम करता है और यह प्रेम उसकी आनन्दमय शक्ति को धीरे वढ़ता जाता है। उसकी यह आनन्दमय शक्ति एकता ही में सन्तुष्ट रहती है।

हम पढ़ चुके हैं कि संसार अर्थात् क्रमोन्नति हमको एकता की ओर ले जाती है या यों कहिये कि ईश्वर की

इच्छा सब जीवों को परस्पर में मिल जाने और अन्त में अपने साथ मिलाने के लिये सयत्न रहती है। इस मिलाप में अतीन्द्रिय आनन्द है। इस लिये पुण्यात्मा या सुखी वे ही हैं जो भेद दृष्टि रहित हैं। बार बार सनातन धर्म यही शिक्षा हमको देता है। ब्रह्म आनन्द मय है इसलिये जीवात्मा ब्रह्म का अंश होने से आनन्द मय है और दुःख तभी होता है जब मनुष्य ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध काम करता है।

यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, नान्यद्विजानाति, भूमेव सुखम्। यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यत् शृणोति, नान्यद्विजानाति, स भूमा॥ अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्त्यम्॥

(छान्दोग्य ७। २३-१। २४-१)

जो अनन्त है वह ही सुख है, जो अल्प है उसमें सुख नहीं हैं, अनन्त में ही सुख है। जहाँ पहुँचने पर कुछ देखा, सुना या जाना नहीं जाता है वह ही अनंत है। परंतु जहाँ और कुछ देखा जाता है, और कुछ सुना जाता है तथा और कुछ जाना जाता है, वह अल्प है। जो अनन्त है वही अमृत है, जो अल्प (थोड़ा) है वही मर्त्य है।

ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपम् ।
सच्चिदानन्दरूपम् इदं सर्वम् ॥

(नृसिंहतापिनी)

वह सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप है, यह सब ब्रह्मरूप, सत्‌चित् आनन्दमय है ।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू–
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

(कठ ४ वल्ली)

स्वयम्भू ने इन्द्रियों के द्वार वाहर को कर दिये इसी लिये मनुष्य भीतर को नहीं देखता है ।

यदा वै सुखं लभतेऽयं करोति ।
नासुखम् लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति ॥

(छान्दोग्य ७ । २२ । १)

जीव जिसमें सुख पाता है, सदा वही करता है, जिसमें सुख नहीं पाता, उसको कभी नहीं करता है ।

सुखचैतन्यस्वरूपोऽपरिमितानन्द-
समुद्रोऽविशिष्टसुखस्वरूपानन्द इति ।

(सर्वसार)

सुख और चैतन्यका अनन्त सागर आनन्द ही सुख है उस से वढ़कर सुख और कोई नहीं है ।

इष्टविषये बुद्धिः सुखबुद्धिः,
अनिष्टविषये बुद्धिः दुःखबुद्धिः ।

(सर्वसार)

इष्ट विषयकी बुद्धि सुखबुद्धि है और अनिष्ट विषयकी बुद्धि दुःखबुद्धि है ।

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते ।
सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते ॥

(महाभारत शान्तिपर्व)

सुखमें सब आनन्दित होते हैं और दुःखसे सब डरते हैं ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥

(गीता ७ अ०)

हे शत्रुनाशक अर्जुन ! प्राणी जब इस शरीरको धारण करते हैं तब अनुराग और द्वेषमूलक सुख दुःखादि जनित मोहसे एक साथ अंधे होजाते हैं । इसीलिये आत्माका दर्शन नहीं कर सकते ।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्‌ क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

(गीता अ० १३)

इच्छा, द्वेष, सुख, शरीर, चेतना और धैर्य इसको संक्षेप में विकारसहित क्षेत्र जानो।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः॥

(गीता ३ अ०)

यह काम और क्रोध रजोगुणसे उत्पन्न हैं।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३ अ०)

इन्द्रियों का इन्द्रियार्थ के लिए रागद्वेष व्यवस्थित हैं, उनके वश में नहीं होना चाहिये। क्योंकि-वे शत्रु हैं।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २ अ०)

रागद्वेषहीन और अपने वशीभूत इन्द्रियों के द्वारा जो जितेन्द्रिय पुरुष विषय सुखको भोगता है, वह चिरकाल तक के समय को शांति सुख के साथ बिता देता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६ अ०)

जो शास्त्र को विधिको छोड़कर यथेच्छाचार से वर्त्तता है वह न सिद्धि पाता न सुख पाता और न शांति ही पाता है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एको रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

जो सकल प्राणियों का नियंता एक अन्तरात्मा है जो कि एक रूप को ही अनेक रूप कर लेता है उस अन्तर्यामी का जो ज्ञानी अपने में दर्शन करते हैं, उनको ही नित्य सुख मिलता है औरों को नहीं मिलता ।

छठे अध्याय के प्रश्न ।

१ ईश्वर का स्वरूप क्या है ?
२ सच्चिदानन्द से क्या तात्पर्य है ?
३ जीव में भी सच्चिदानन्द का अंश है ? यदि है तो क्यों व कैसे ?
४ निम्नलिखित के विषय में तुम क्या जानते हो, सविस्तर लिखो· इच्छा, प्रेम, द्वेष, और अतीन्द्रिय आनन्द ।
५ मनोविकारों में से कौन आकर्षणशक्ति और कौन विकर्षण शक्ति उत्पन्न करते हैं ?

६ मनोविकार क्यों व किस प्रकार से पुण्यरूप में परिणत हो जाते हैं ?

७ मनुष्य में सदाचार-विकास कैसे होता है ?

८ प्रेम का विकास मनुष्य को विश्वजनीन आत्मा कैसे बना देता है ?

९ आनन्दमय शक्ति सन्तुष्ट कैसे होती है ?

१० वस्तुतः पुण्यात्मा और सुखी मनुष्य कौन है ?

११ सनातन धर्म की प्रधान शिक्षा क्या है ?

१२ जीवात्मा क्या आनन्दमय है यदि है तो कैसे ?

१३ यदि जीवात्मा आनन्दमय है तो वह दुःखी क्यों होता है ?

सप्तम अध्याय।

आत्मानुगत धर्म।

इससे पहिले कहा जा चुका है कि–जीवात्माका अपने समीपके जीव समूहके साथ जो संवन्ध है, उस सम्बन्धको सुखदायक बना देना ही नीतिशास्त्रका उद्देश्य है। परन्तु अपने देहकोषोंके साथ जीवात्माका विशेष सम्बन्ध है, इस बातको भूलजानेसे काम नहीं चलेगा। ये कोष (शरीर) अनात्म पदार्थोंकी अपेक्षा अपने हैं, इसलिये

उनके साथ ठीक २ सम्बन्ध हुए बिना उसका अन्य देहोंके साथ कदापि सुखदायक संबंध नहीं हो सकता। जब तक जीवात्मा बालक रहता है तबतक यह देह उसके ऊपर प्रभुता रखते हैं और उसको अनेकों कष्टोंमें डाल देते हैं। उमर बढ़नेके साथ २ वह इन देहोंको अपने वशमें करनेकी चेष्टा करता है, इसके लिये उसको अनेकों युद्ध करने पड़ते हैं। तदनन्तर उसके आत्मशासन और संयमशक्तिकी पुष्टि होती है। जीवात्मा जो सकल कोष और अन्य वृत्तियोंपर प्रभुता करता है, इसका ही नाम संयम है। यह सकल देहोंके अनुकूल आत्मानुगत धर्म है। सबही समझ सकते हैं कि-जिनमें ये सब गुण हैं वे ही दूसरेके साथ साम्यभाव रख सकते हैं, दूसरे ऐसा नहीं कर सकते।

धर्मकी व्यवस्था देनेवाले मनुजीने आत्मसंयमकी विशेष प्रधानता मानी है और उसके विषयमें कितने ही सुन्दर उपदेश दिये हैं। उन्होंने कहा हैं कि कर्ममें तीन शक्तियाँ हैं उन तीनोंको वश कर लेना चाहिये। कर्म मन, वाणी और शरीरका आश्रय करके उत्पन्न होता है। यथा—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः॥

अर्थात् कर्म शुभ और अशुभ फलको उत्पन्न करता

है, यह कर्म देह, मन और वाणीसे उत्पन्न होता है, और इस कर्मके फलसे ही मनुष्यको उत्तम, मध्यम और अधम गति मिलती है।

मन वा मनोमय कोषका आश्रय करके सब प्रकारके भावकी उत्पत्ति होती है, अतः मनको वशमें करना होगा। यह परम कठिन काम है। क्योंकि मन निरन्तर वासनाका अनुगामी है, यह निरन्तर अनेकों वस्तुओंके पानेकी अभिलाषाके द्वारा चालित और शासित होता है। सकल वासनाओंको पूरी करनेके लिये व्यग्र और उन वासनाओंका दास होजाता है। जीवात्मा का पहिला कर्त्तव्य है कि मनको उस दासभावसे छुडावे, फिर उसको सकल इंद्रियोंका स्वामी बनाकर अपने कार्यमें लगावे। मनुजीने कहा है—

श्रोत्रे त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥
बुद्धिन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ॥

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, और नासिका तथा पायु, उपस्थ, हस्त, पाद, और दशवीं वाणी है। इनमें क्रमसे

श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियें और पायु आदि पाँच कर्मेंद्रियें कहाती हैं । ग्यारहवाँ मन है, जो कि अपने गुणसे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय उभयात्मक कहाता है, इस मनको जीत सकनेपर पाँचों ज्ञानेन्द्रियें और पाँचों कर्मेन्द्रियें वशमें होजाती हैं । इसलिये छात्रोंको मनको वशमें करने के लिये विशेष यत्न करना चाहिये । जब मन कुमार्गमें जाना चाहे, उस समय उसको रोककर सुमार्गमें प्रवृत्त करे । आत्मसंयम रूपी कार्यका यह प्रथम और अत्यन्त कठिन काम है ।

दूसरा उपाय वाग्दण्ड है । बात कहनेसे पहिले विचार करके बात कहनी चाहिये । बिना विचारे बात कहनेसे अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं । अर्जुन बात कहनेसे पहिले बिचार नहीं करते थे, इसीलिये उनको अनेकों समय अनेकों कष्टोंमें फँसना पड़ा था । एक वार उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि यदि सूर्यास्त होने से पहिले पुत्रका वध करनेवाले जयद्रथका वध न कर सकूँगा तो आत्मघात करके अपने प्राणोंको त्याग दूँगा । परन्तु उस दिन जयद्रथको पानेकी कुछ भी आशा नहीं थी । केवल श्रीकृष्णजी के चक्रसे धोखा खाकर सूर्यास्तसे बहुत पहिले संध्याके भ्रमवश जयद्रथ बाहर निकल आया था । तब अर्जुनने अपनी प्रतिज्ञाको पूरी करने का अवकाश पा लिया । एक वार युधिष्ठिरके साथ विवाद उपस्थित होनेपर उनकी जैसी अवस्था हुई थी, वह महाभारतमें विस्तारके साथ

वर्णित है । किसी एक भी प्रतिज्ञाकी रक्षा अर्जुन नहीं करसके थे, इसीलिये अर्जुनको महाप्रस्थानके समय मार्गमें ही प्राणत्याग करना पड़ा था । अर्जुनके देहत्यागका कारण पूछने पर युधिष्ठिरने कहा था कि-अर्जुनने प्रतिज्ञा की थी कि एक दिनमें ही सब शत्रुओंको नष्ट कर डालूँगा, परन्तु अपनी वीरता के अहंकारमें उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी उसको वे पूरी नहीं करसके, इसी लिये उनका पतन हुआ ! जो वाग्दण्डमें समर्थ होता है, उसको आत्मसंयम करनेमें अधिक विलम्ब नहीं लगता है ।

तीसरा देहदण्ड है । भौतिक शरीरका भी दमन करनेकी आवश्यकता है, जिससे कि वह हमको अनुचित कर्ममें खींचकर पापग्रस्त न करदे । भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

जवानीकी अवस्थामें ही देहका दमन करना चाहिये । क्योंकि उस समय ही इसको सहजमें जीतकर सन्मार्गमें चलाया जासकता है । देह अभ्यासका दास है, यद्यपि पहिले उसको जीवात्माकी इच्छा के अनुकूल करनेमें कष्ट प्रतीत होता है, परन्तु अटल निश्चयके साथ बहुत थोड़ासा उद्योग करने पर अति सहजमें ही देहका संयम होजाता है । एक बार अभ्यास करा देने पर देह को अभ्यस्त मार्गमें चला देना बहुत कठिन नहीं है ।

आत्मसंयमके द्वारा हमको जिन पापों और दुःखोंकी जड़को नष्ट करना होगा, उनमें स्वार्थकी वासना सबसे बढ़कर है । क्योंकि कठिनतासे पूरी होनेवाली भूतलके सुख और सम्पदाओंकी कामनाओंसे ही बहुतसे दुःखोंकी उत्पत्ति होती है । उन कामनाओं को त्याग देनेसे ही शांति मिलती है । कामनाओंको पूरी करने से शान्तिलाभ होना कठिन है । इस बातको मंकी समझगए थे । मंकीने लोभवश धनके लिये बहुत कुछ उद्योग किया, परन्तु उन की आशा पूरी नहीं हुई । वे अपने बचे बचाये धनसे दो बछड़े खरीदकर उनसे हल खींचनेका अभ्यास कराने लगे । परन्तु भाग्यवश ये दोनों जिस रस्सीमें बंधे थे वह जाते हुए ऊँटमें उलझ गई, और उन बछड़ोंकी मृत्यु होगई ! इस अंतकी दुर्घटनाके होने पर मंकीके हृदयसे कामना दूर होगई ! तब मंकीने यह कहना आरम्भ किया कि-जो सुखकी आशा करता हो उसको विषयवासना त्याग देनी चाहिये । शुकदेवजीने ठीक ही कहा है कि-यदि दो मनुष्योंमें एक मनुष्य अपनी सब अभिलाषाओं को पाजाय और दूसरा अपनी सब अभिलाषाओंको त्यागदे तो पहिलेकी अपेक्षा दूसरा निःसंदेह बहुत ऊँचा है । क्योंकि आजतक किसीने वासनाओंको पूरी नहीं की । हे आत्मन् ! तुम इतने दिनोंसे लोभके दास थे, आज दासभाव छूटा है; इस समय स्वाधीनता और शांतिके मधुर स्वाद का उपभोग करो ।

इतने दिनोंसे मैं सोरहा था, अव नहीं सोऊँगा, जागता ही रहूँगा। हे वासना ! अव तू मुझको नहीं भुला सकेगी, जिस विषयमें तूने मेरे हृदयको खींचा है, उसका अनुगामी होनेसे तूने मुझको जवरदस्ती उसीमें आसक्त किया है। वह वस्तु मुझको मिल सकेगी या नहीं, इसका एक वार विचार तक भी तूने नहीं करने दिया। तुझको बुद्धि नहीं है, तू मूर्ख है, तू चिरकाल तक कभी तृप्त न होनेवाले अग्निके समान निरन्तर धधकती रहती है। तुझको निरन्तर आहुति पानेकी इच्छा रहती है, तुझको तृप्त करना असम्भव है। मैं देखरहा हूँ कि मुझको दुःखके समुद्रमें डुवादेना ही तेरी एकमात्र इच्छा है। आज मैं तुझसे अलग होगया। हे कामना ! अब आजसे मैं तेरा संग नहीं चाहता। अब मैं तेरा या तेरे दल-बलका विचार भी नहीं करूँगा। आजसे मैंने तुझको अपने मनकी सकल वृत्तियोंसे अलग कर दिया। मैंने अनेकों वार हताश होकर कष्ट भोगा है, आज मेरा मन शांत हुआ। आजसे मुझ को जो कुछ अनायास मिल जायगा उससे ही मैं जीवनयात्रा का निर्वाह करूँगा। अब कामनाओंको पूरी करनेके लिये परिश्रम नहीं करूँगा। आज मैंने पहचान लिया कि तू मेरी शत्रु है। तुझको दलबल सहित त्यागकर उसके बदलेमें शांति आत्मसंमय, क्षमा, दया तथा मुक्ति पाई है। इसप्रकार मङ्कीने थोड़ा ही सा त्याग करके सब कुछ पालिया था !

ययाति राजाका वृत्तान्त भी सुनने योग्य है। उन्होंने वासना के वशीभूत हो, अपने पुत्रसे जवानी लेकर कभी पूर्ण न होनेवाली लालसाको चरितार्थ करनेकी चेष्टा की थी। उपाख्यान इस प्रकार है—

चन्द्रवंशमें एक नहुषका पुत्र ययाति नाम का राजा था। उस को इंद्रियोंको तृप्त करनेकी बड़ी लालसा रहती थी, इसी कारण उसके ससुर दैत्यगुरु शुक्राचार्यजीने उसको शाप देदिया था। उस शापके कारण असमयमें ही बुढ़ापेने आकर उसको घेरलिया। तब उसने शुक्राचार्यजी को प्रसन्न किया। तब उन्होंने कहा कि तुम्हारे पुत्रोंमें से जो कोई चाहेगा वह हजार वर्षके लिये तुम्हारी बुढ़ापा लेकर अपनी जवानी तुमको देसकेगा। ययातिने क्रमसे अपने पाँचों पुत्रोंसे पूछा, तब छोटे पुत्र पुरुने उसको प्रसन्न करनेके लिये अपनी इच्छासे अपनी जवानी देकर हजार वर्षके लिये उसकी बुढ़ापा लेली। तदनन्तर हजार वर्ष तक निरन्तर इन्द्रियों की सेवा करके भी राजाको तृप्ति नहीं हुई। उसकी इन्द्रियें वशमें न होनेके कारण वासना दूर नहीं हुई। अन्तमें हजार वर्ष बीतने पर राजाके मनमें वैराग्य हुआ। राजाने समझा कि विषयभोग से वासनाकी तृप्ति नहीं होती है, किंतु उसको त्यागनेसे ही तृप्ति होती है। तब राजाने पुरुको बुलाकर अपनी बुढ़ापा लौटाली और उसको जवानी तथा अपना राज्य देकर स्वयं वह वनको चलागया। उस समय राजाने कहा था कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

अर्थात् कामना कामनाओं के भोगसे शान्त नहीं होती किन्तु घी डालनेसे जैसे अग्नि अधिकतर धधक उठती है, वैसे ही कामना बढ़ती ज़ाती है।

अब जरा श्रीकृष्णजीके कहेहुए अहिंसा शब्दके विषय पर भी थोडा सा विचार करना चाहिये। भीष्मजीने एक जगह उपदेश दिया है कि अहिंसा परमधर्म है, हमको किसीका अनिष्ट नहीं करना चाहिये, हमारा जीवन दूसरोंकी सहायता के लिये ही बना है, किसीको भी कष्ट देनेके लिये नहीं रचा गया है। यह अहिंसा देहके संयमसे उत्पन्न होनेवाला धर्म है। बृहस्पतिजीने कहा है कि जो पुरुष सकल प्राणियोंके ऊपर दया दिखाता है वह सबसे अधिक मङ्गल पाता है। जो अपने लिये कष्टदायक हो वह व्यवहार किसी भी दूसरेके साथ नहीं करना चाहिये; यही सत्कार्योंका मूल नियम है।

मनुष्य अनेकों वार अनजानमें दूसरोंको कष्ट देता है। उससे भी बहुत सी विपत्तियें पैदा होजाती हैं। युधिष्ठिर, दुर्योधन और उनके भाई जिस समय वालक थे, एक संग पढ़ा करते थे। भीमसेन उन सबसे बली थे, सबके साथ समय २ पर मल्लयुद्ध (कुश्ती) आदि किया करते थे और वालकस्वभाव वश चपलताके कारण

असावधानतासे दुर्बल और छोटी अवस्थाके बालकोंको भय भी दिखाया करते थे । जब बालक फल इकट्ठे करनेमें व्यस्त होते थे, उससमय दोनों हाथोंसे वृक्षको पकड़ कर हिलाते हुए उनको दिक्क कर डालते थे। कोई बालक पकेहुए फलकी तरह वृक्षसे भूतलपर जब गिर पड़ता था तो भीमसेन हँसते हुये बड़ा आमोद मानते थे, परन्तु उस चोटके साथ किसी २ बालकके मनपर आघात पहुँचता था । किसी समय भीमसेन जाकर नदीमें स्नान करनेको जाते और जलमें गोता लगाते थे और साथमें कितने ही बालकोंको भी गोता खिलाकर मृतप्राय करदेते थे। क्योंकि इनके शरीर में अधिक शक्ति होने के कारण अधिक देरतक गोता लगानेमें भी उनको कुछ कष्ट नहीं होता था, परन्तु और बालकोंके प्राणों पर आबनती थी । इसमें भीमसेन बड़ा आमोद समझते थे! परन्तु जरा विचार कर देखो, अंतमें इसका परिणाम क्या हुआ ? उस बालकपन की मनकी मलिनताने ही बढ़कर, समय पर कौरव और पांडवोंमें शत्रुताका बीज बो दिया। उससे ही कौरव और पांडव दोनों दल भस्मीभूत होगये । भीमसेनकी वह बालकपनेकी चपलता ही कुरुक्षेत्रके महासंग्रामका कारण हुई ।

ठीक ही है कि शीघ्र बल उठानेवाले घास फूँस के बिना साधारण चिनगारी से काठ नहीं जलता। पेशी के रोगयुक्त हुए बिना रोगके जीवाणु उसमें आश्रय नहीं

पासकते । सर्वदाहक अग्निकी चिनगारीसे हमको सदा सावधान रहना चाहिये । मृत्युदायक रोगके जीवाणुओंसे हमको सदा सावधान रहना चाहिये । जब चपलताके कारण कोई अपने बलके भरोसे दुर्बल के ऊपर अत्याचार करता है, तो उस समय दुर्बल बदला नहीं लेसकता, यह ठीक है, परन्तु उसके हृदयके भीतर जो क्रोधका बीज उत्पन्न होता है, वह घृणा, ईर्ष्या, आदिका स्वरूप धारण करलेता है । जो कुछ भी हो दुर्बल के ऊपर बलवान् का अत्याचार करना सर्वथा अत्यन्त अनुचित है । जिसका मन दूसरेको पीड़ा देने से प्रसन्न रहता है, वह अपने आप ऐसे व्यवहारको चाहे अच्छा समझ बैठे, परन्तु न्यायकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह क्षुद्रताका काम और उत्पीडन है । कुरुक्षेत्र के महासंग्राम के वृत्तान्त पर धीरता के साथ विचार करनेसे पाण्डव पूर्णरूपसे प्रशंसाके पात्र और कौरव सर्वथा निन्दाके पात्र नहीं हो सकते ।

मन, वाणी और देह के दण्डरूप त्रिदण्डको धारण करनेसे न्यायपरायणता और चरित्र उत्तम होता है तथा श्रेष्ठ व्यवहार करनेकी योग्यता उत्पन्न होती है । जिस पुरुषने अपनेको सबके साथ सत् सम्बन्धके सूत्रमें बाँध लिया है, जिसने अपने भाव, देह, मन और आत्मानुगत धर्मको वशमें करलिया है, वह दूसरोंके लिये अपने जीवनको बिता सकता है ।

सब ही धर्म पवित्र प्रेम से उत्पन्न हुए हैं और उनका फल आनन्द है। सब पापों की मूल घृणा है और उसका फल दुःख है।



शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः॥
तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्याधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनोविद्यात्प्रवर्त्तकम्॥
मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव तु कायिकम्॥
वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं निगच्छति॥

(मन १२ अ०)

शुभ, अशुभ कम, मन वाणी और देह से उत्पन्न होता है और उसी के अनुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम गति होती है। देहीके मनका भाव मन वाणी और देह के आश्रयसे तीन प्रकारका होता है, उसके भीतरी दश लक्षण हैं, जिनको धारण करके मन

विद्याका प्रवर्त्तक होता है। मनके द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मके फलको यह देही मनके द्वारा भोगता है, वाणी के द्वारा किये हुए कर्मके फलको वाणीके द्वारा भोगता है और शरीर के द्वारा किये हुए कर्मके फलको शरीरसे भोगता है। जिसकी बुद्धिमें वाग्दण्ड, मनोदण्ड और देहदण्ड उत्तम रूप से स्थित है उसको ही शास्त्र त्रिदण्डी कहता है, काम क्रोधको दबाकर त्रिदण्डी होकर जब मनुष्य सकल प्राणियांका हित करनेमें तत्पर होता है तब वह त्रिदण्डीकी सिद्धिका फल पाता है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

(मनु १२ अ०)

देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानोंका पूजन, स्वच्छता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीरका तप (देहदण्ड) कहाता है। किसीको उद्वेग न देनेवाला सत्य, प्रिय और हितकारी वाक्य कहना तथा प्रति-

दिन वेदपाठ करना यह वाणीका तप (वाग्दण्ड) कहाता है। मनको प्रसन्न रखना, सौम्यभाव, इन्द्रियों को वश में रखना, मौनभाव यह भीतरी भावको शुद्ध करनेवाला मानस तप (मनोदण्ड) कहाता है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एव विवर्द्धते॥
(महाभारत अनुशासनपर्व)

कामनाओंके भोगनेसे कामनाकी शांति नहीं होती है, किन्तु जैसे घी डालनेसे अग्नि पहिलेसे भी अधिक वल उठता है वैसे ही विषयभोगसे कामना अधिक २ बढ़ती ही जाती है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(गीता ६ अ०)

हे अर्जुन! निःसन्देह चञ्चल होनेके कारण मनका वशमें होना कठिन है, परन्तु अभ्यास योग और वैराग्यकी सहायतासे वशमें हो सकता है। यह मन चञ्चल अस्थिर जब जब हो, तब तब इसको रोककर अपने वशमें करे।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥
(गीता १२ अ०)

यदि अभ्यास योग करनेमें असमर्थ हो तो तत्पर होकर मेरे निमित्त कर्म करो मेरे निमित्त कर्म करनेसे भी सिद्धि पाजाओगे ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
(कठ ६ वल्ली)

नित्योंमें नित्य, प्राणों का प्राण जो एक बहुत होकर कामनाओंको पूर्ण करता है, उस अपनेमें स्थितका जो ज्ञानी दर्शन करते हैं, वेही नित्य शान्ति पाते हैं, दूसरों को शान्ति नहीं मिलती ।

गोत्रजः सहजशत्रुरित्यसौ
नीतिरस्तु धनलोभदुर्धियाम् ।
वृद्धतुल्यलघुपुंवृतं जगद्
बोधनस्य पितृमित्रपुत्रवत् ॥
(बालभारत, उद्योगपर्व)

धनके लोभी दुर्बुद्धि कहा करते हैं कि गोत्रका पुरुष स्वाभाविक शत्रु होता है, परन्तु जो ज्ञानधनके धनी हैं वे इस बात को ठीक नहीं मानते और बड़ोंको पिता समान, बराबरवालोंको मित्र समान और छोटोंको पुत्र समान मानते हैं।

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते।
अमित्रान् वाऽजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते॥
आत्मानमेव प्रथमं द्वेषरूपेण योजयेत्।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते॥

(बालभारत, उद्योगपर्व १३८ अ०)

जो अपनेको विना जीते मंत्रियोंको जीतना चाहता है अथवा मंत्रियोंको अपने वशमें विना किये शत्रुओं-को जीतना चाहता है उसकी विजय कभी नहीं होती है, किंतु उसका ही गर्व खर्व होता है। और जो पहिले अपने आपको ही शत्रु मानकर जीत लेता है, और फिर शीघ्रतासे मन्त्रियोंको वशमें करलेता है वह रणमें शत्रुओंको अवश्य ही जीत लेता है, उसका परिश्रम कभी निष्फल नहीं जाता।

धर्मस्य विषये नैके ये वै प्रोक्ता मनीषिभिः।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम्॥

दमं निःश्रेयसे प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥
अदन्तपुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते ।
अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान् ॥
आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।
तेषां लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः प्रियवादिता ।
अविहिंसाऽनसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥

ऋषि मुनियोंने अपने २ ज्ञानके आश्रयसे धर्मकी जो अनेकों शाखायें कही हैं, उन सबका परम आश्रय दम है। निश्चयदर्शन करनेवाले वृद्धोंने दमको ही परम मंगल देने वाला कहा है और ब्राह्मण के लिये विशेष करके दमको सनातन धर्म कहा है। दमहीन पुरुष सदा क्लेश पाता है और अपने ही दोष से उत्पन्न हुई और भी बहुतसी आफतोंमें पड़ जाता है। चारों आश्रमों के लिये दम श्रेष्ठ व्रत है, उनके लक्षण कहता हूँ कि जिनके होने से दम उत्पन्न होता है। क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, इन्द्रियोंको जीतना, चतुराई, कोमलता, लज्जा,

चपल न होना, कृपण न होना, क्रोध न करना, संतोष, मीठा बोलना, किसीका चित्त न दुखाना, और किसीके गुणोंको देखकर दोष न निकालना, यह सब होनेपर दमका उदय होता है ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनु ६ अ०)

धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, शौच, इन्द्रियोंको वशमें रखना, शास्त्रानुकूल बुद्धि, विद्याका अभ्यास, सत्य बोलना और क्रोध न करना यह दश धर्मके लक्षण हैं ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥

अहिंसा, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्र रहना और इन्द्रियों को वश में रखना यह मनुजीने चारों वर्णोंका संक्षेपसे धर्म कहा है ।

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः ।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः ॥ ६६ ॥

चोरी न करना, क्रोध न करना, सत्यभाषण, लज्जा, शौच, शास्त्रीय बुद्धि, धैर्य, दम, इन्द्रियोंको वशमें रखना और विद्या इतनेमें सब धर्म कह दिया है ।

सप्तम अध्याय के प्रश्न ।

१ अन्य लोगों के साथ ऐक्य प्राप्त करने से पूर्व मनुष्य को किन २ वस्तुओं से ऐक्य प्राप्त कर लेना आवश्यक है ?

२ अवस्था का प्रभाव हमारे ऊपर क्या पड़ता है ?

३ आत्म-संयम किसको कहते हैं ?

४ आत्म-सम्बन्धी पुण्य पाप क्या होते हैं ?

५ आत्म-संयम के विषय में मनु का क्या आदेश है ?

६ कर्म कितने प्रकार का होता है ?

७ मनोमय कोष के बारे में क्या जानते हो ?

८ आत्म-संयम में सबसे कठिन बात क्या और क्यों है ?

९ मन को वश में कैसे लाना चाहिये ?

१० मन को वश में करने के सिवाय आत्म-संयम के लिये और क्या २ कर्तव्य हैं ?

११ वाणी को वश में न करने से अर्जुन को क्या २ कष्ट हुए ?

१२ जयद्रथ कौन था और उसके विषय में तुम क्या जानते हो ?

१३ श्री कृष्ण के कथनानुसार शारीरिक तप कौन हैं ?

१४ सांसारिक दुःखों से अनुभव प्राप्त करके "इच्छा" का परित्याग करने से सुख मिलता है, इसका कोई उदाहरण लिखो ।

१५ ययाति की कथा लिख कर बताओ कि उससे तुम्हें क्या शिक्षा मिलती है ?

१६ "अहिंसा" के विषय में तुम क्या जानते हो ?

१७ भीम के कौन २ कर्म महाभारत युद्ध के कारण हैं ?

१८ पुण्य कर्म कितने व किन २ विभागों में विभक्त हैं ?

आचार्य का उपदेश ।

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि । ये के च अस्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वया आसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया अदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः समदर्शिनः युक्ताः आयुक्ताः

अलूक्षाः धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथ अभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः समदर्शिनः युक्ताः आयुक्ताः अलूक्षाः धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्त्तेरन, तथा तेषु वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषद् । एतद् अनुशासनम् । एवम् उपासितव्यम् । एवम् उचैतद् उपास्यम् ।

भावार्थ—[सच बोलना । धर्म का आचरण करना । सावधानता के साथ स्वाध्याय (ज्ञान-संचय) करते रहना । यथाशक्ति धन आदि से इस विद्यालय की सेवा करना और लोक सेवा के लिये प्रजा-सन्तति के पालन-पोषण में सावधान रहना । सत्य, धर्म और कुशल के मार्ग को न छोड़ना । अपनी स्वर्थसिद्धि के लिये धर्म-मार्ग से कभी न हटना । माता, पिता, गुरु और अतिथि की सेवा करना । जो श्रेष्ठ कार्य्य हैं, उन्हीं का आचरण करना । हमारे जो अच्छे आचरण हैं, उन्हीं का अनुकरण करना, बुरों का नहीं । श्रद्धा और विवेकपूर्वक प्रत्येक दशा में दान देना । यदि तुम्हें किसी अवस्था में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में शङ्का उत्पन्न हो तो जो सहिष्णु, तपस्वी, एकाग्रचित्त, शांतप्रकृति, धर्मात्मा विद्वान् ब्राह्मण हों, उनके पास जाकर उसका समाधान कर लेना और जैसा वह आचरण करें, वैसा ही तुम भी करना । यही अन्तिम आदेश और उपदेश है । यही वेदों का रहस्य और सार है । इसी की उपासना करना । इसीसे तुम्हारा कल्याण होगा ।]

हिन्दूधर्मोपदेशः ।

(पण्डितमदनमोहनमालवीयकृतः)

संघे शक्तिः कलौ युगे ।

हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ॥ १ ॥
ग्रामे ग्रामे सभा कार्य्या ग्रामे ग्रामे कथा शुभा ।
पाठशाला मल्लशाला प्रतिपर्व महोत्सवः ॥ २ ॥
अनाथा विधवा रक्ष्या मन्दिराणि तथा च गौः ।
धर्म्यं संघटनं कृत्वा देयं दानं च तद्धितम् ॥ ३ ॥
स्त्रीणां समादरः कार्य्यो दुःखितेषु दया तथा ।
अहिंसका न हन्तव्या आततायी बधार्हणः ॥ ४ ॥
अभयं सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यं धृतिः क्षमा ।
सेव्यं सदाऽमृतमिव स्त्रीभिश्च पुरुषैस्तथा ॥ ५ ॥
कर्म्मणां फलमस्तीति विस्मर्तव्यं न जातु चित् ।
भवेत्पुनः पुनर्जन्म मोक्षस्तदनुसारतः ॥ ६ ॥
स्मर्तव्यः सततं विष्णुः सर्वभूतेष्ववस्थितः ।
एक एवाऽद्वितीयो यः शोकपापहरः शिवः ॥ ७ ॥
'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानाञ्च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च लोकानां योऽव्ययः पिता' ॥ ८ ॥
उत्तमः सर्वधर्माणां हिंदूधर्मोऽयमुच्यते ।
रक्ष्यः प्रचारणीयश्च सर्वभूतहिते रतैः ॥ ९ ॥

कलियुग में एकता ही में शक्ति है।

परमेश्वर को प्रणाम कर सब प्राणियों के उपकार के लिये बुराई करने वालों को दबाने और दण्ड देने के लिए और धर्म की स्थापना के लिये धर्म के अनुसार संघटन-मिलाप-कर गाँव गाँव में सभा करनी चाहिये। गाँव गाँव में कथा बिठानी चाहिए। गाँव गाँव में पाठशाला और अखाड़े खोलने चाहिये। और पर्व पर्व पर मिलकर महोत्सव मनाना चाहिये।

सब भाइयों को मिलकर अनाथों की मन्दिरों की और लोकमाता गौओं की रक्षा करनी चाहिये और इन सब कामों के लिये दान देना चाहिये। स्त्रियों का सम्मान करना चाहिये। दुःखियों पर दया करनी चाहिये।

उन जीवों को नहीं मारना चाहिये जो किसी पर चोट नहीं करते। मारना उनको चाहिए जो आततायी हों अर्थात् जो स्त्रियों पर या किसी दूसरे के धन या प्राण पर वार करते हों और जो किसी के घर में आग लगाते हों। ऐसे लोगों को मारे बिना यदि अपना या दूसरों का प्राण या धन न बच सके तो उनको मारना धर्म है।

स्त्रियों को भी पुरुषों को भी निडरपन, सचाई, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य्य, धीरज और क्षमा का अमृत के समान सदा सेवन करना चाहिये।

इस बात को कभी न भूलना चाहिये कि भले कर्मों का फल भला और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है और कर्मों के अनुसार ही प्राणी को बार बार जन्म लेना पड़ता है या मोक्ष मिलता है।

घट घट में बसने वाले विष्णु—सर्वव्यापी ईश्वर का—सुमिरन सदा करना चाहिये जिनके समान दूसरा कोई नहीं-जो एक ही अद्वितीय हैं और जो दुःख और पाप के हरने वाले शिव स्वरूप हैं और जो सब पवित्र वस्तुओं से अधिक पवित्र, जो सब मंगल कर्मों के मंगल स्वरूप हैं, जो सब देवताओं के देवता हैं और जो समस्त संसार के एक अविनाशी पिता हैं।

सब धर्मों से उत्तम इसी धर्म को हिन्दू धर्म कहते हैं। सब प्राणियों का हित चाहते हुए हिन्दू धर्म की रक्षा और प्रचार करना हमारा धर्म है ॥ इति शिवम् ॥

प्रार्थना।

(सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल, काशी)

नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये
सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते
सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः ॥ १ ॥

१—हे अनन्त! तेरी सहस्रों मूर्तियां हैं, सहस्रों चरण, नयन, सिर, जांघ और बाहु हैं, सहस्रों नाम हैं। तू असंख्य युगों का धारणकर्त्ता सनातन पुरुष है। तुझे बारंबार नमस्कार है।

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥२॥

२—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तुतियों के द्वारा जिसकी स्तुति किया करते हैं; सामवेदी-अङ्ग, पद, क्रम तथा उपनिषद् सहित वेद मन्त्रों से जिसका गान करते हैं; योगिजन समाधि में स्थिर तथा तल्लीन मन से जिसका सक्षात्कार करते हैं; सुर असुर कोई भी जिसका अन्त नहीं पाते; उस देव को मेरा नमस्कार है।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ३ ॥

३—हे सर्व! तूही सब कुछ है। तेरा ओर छोर नहीं। तेरा वीर्य अनन्त और तेरा पराक्रम अमित है। तूही सब कुछ पाता और तूही सब कुछ पूरा करता है। (मैं एकदेशी तू व्यापक) इससे मैं तुझे आगे पीछे और चारों ओर प्रणाम करता हूं।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ ४ ॥

४—तू अक्षर है। तेरा नाश नहीं। संसार में सब से बड़ा, जानने के योग्य वस्तु तूही है। तूही इस विश्व ब्रह्माण्ड का निधान या खजाना है। मेरी समझ में सनातन धर्म का रक्षक निर्विकार [illegible]नातन पुरुष तू हीं है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमोनमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते ॥ ५ ॥

५—वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और प्रपितामह तू ही है । तुझे सहस्रों बार मेरा नमस्कार है (मन नहीं भरता इससे) फिर फिर नमस्कार है ।

तवाग्निसूर्यौ तपतो भयेन
भयेन वायुः पवते तवासौ ।
भयेन ते वर्षति शक्र एष
प्रभो वशे मृत्युरपि ध्रुवन्ते ॥ ६ ॥

६—हे प्रभु ! तेरे डर से अग्नि और सूर्य तप रहे हैं । तेरे डर से पवन जगत् को पावन करता है तेरे डर से इन्द्र पानी बरसाता है, अधिक क्या, मृत्यु भी तेरे वश में है ।

न धाम्नि ते भाति शशी न सूर्य्यो
न तारका भान्ति न विद्युतश्च ।
त्वां भान्तमन्वेव विभाति सर्वं
तवैव भासा सकलं विभाति ॥ ७ ॥

७—सितारे बिजुलियों की कौन कहे, तेरे तेज के सामने सूर्य और चन्द्रमा तक नहीं चमकते, फीके और मन्द दिखाई देते हैं । सच तो यह है कि तू अकेला चमकता रहता है और तेरी प्रभा के सहारे यह सारा ज्योतिर्मण्डल टिमटिमाया करता है ।

भयानां भयं भीषणं भीषणानां
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियन्तृत्वमेकं
परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥ ८ ॥

८—भयों का भय, भयङ्करों का भयङ्कर, पवित्रकर्त्ताओं का पवित्रकर्ता, रक्षकों का रक्षक और बड़ों का बड़ा सब प्राणियों का सहारा तूही है । जितने बड़े बड़े उच्चपद हैं सबकी बागडोर तेरे हाथों में है तेरी आज्ञा के विरुद्ध टस से मस कोई नहीं हो सकते ।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥ ९ ॥

९—हे दयामय ! तूही माता पिता, तूही भाई बन्धु और तूही मेरा मित्र है । विद्या कहो तो, धन कहो तो, तूही है । अधिक क्या हे देव तूही मेरा सर्वस्व है ।

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥१०॥

१०—समुद्र की दावात में यदि कज्जल गिरि की स्याही हो, सारी पृथ्वी कागज हो और कल्पवृक्ष की बड़ी डाल यदि लेखनी बने, और ऐसे सामान लेकर सरस्वती देवी यदि सदा लिखती रहें तो भी [illegible] तेरे गुणों का पार नहीं पा सकतीं ।

× × ×

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता ।
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ॥
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता ।
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥

अर्थ—जो श्वेत साड़ी पहनी हुई हैं, जिनका शरीर कुन्द, हिम तथा चन्द्रमा के समान स्वच्छ है, जो श्वेत कमल के सुन्दर आसन पर आसीन हैं, जिनके हस्तकमल में सुन्दर वीणा शोभा पा रही है, जिनका ध्यान ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रभृति देवता सदा किया करते हैं, और जो समस्त अज्ञान की नाशक हैं वह माता सरस्वती सदा मेरी रक्षा करें ।

× × × ×

वन्दे मातरम् ।

सुजलाम् सुफलाम् मलयजशीतलाम्,
शस्यश्यामलाम् मातरम् । वन्दे०
शुभ्रज्योत्स्नापुलकितयामिनीम्,
प्रफुल्लकुसुमितद्रुमदलशोभिनीम्,
सुहासिनीम् सुमधुरभाषिणीम्,
सुखदाम् वरदाम् मातरम् । वन्दे०
त्रिंशत्कोटिकण्ठकलकलनिनादकराले,
द्वित्रिंशत्कोटिभुजैर्धृतखरकरवाले ।

के बोले मा ! तुमि अबले,
बहुबलधारिणीम् नमामि तारिणीम्,
रिपुदलवारिणीम् मातरम् । वन्दे०
श्यामलाम् सरलाम् सुस्मिताम् भूषिताम्
धरणीम् भरणीम् मातरम् । वन्दे०

अर्थ—मैं अपनी मातृभूमि को प्रणाम करता हूँ। सुन्दर सुन्दर नदियों, फलों तथा मलयाचल सी शीतल वायु से पूर्ण, शस्यराशि से श्यामवर्णवाली, प्यारी मातृभूमि को मैं प्रणाम करता हूँ।

सुन्दर ज्योत्स्ना जहां रात्रि की शोभा बढ़ा रही है, जहां फूल, फल, पत्रादि से युक्त नाना भाँति के वृक्ष शोभा-सम्पन्न हो रहे हैं उस प्रसन्न वदन, मृदुभाषिणी, सुखद, वरद, माता जन्मभूमि को मैं प्रणाम करता हूँ।

जब तीस करोड़ कण्ठ अपने कलकल नाद से शत्रुओं के हृदय को कँपाते हों और साठ करोड़ हाथों में खड्ग चमक रहा हो तब हे मातृभूमि ! तुझे कौन अबला कह सकता है ? तू बहुबल धारिणी है, शत्रुओं का विध्वंस करनेवाली है, हे माता ! मैं तुझे प्रणाम करता हूँ।

जो श्यामल, सरल तथा प्रसन्न वदन है, जगत् को धारण और भरण-पोषण करनेवाली है—ऐसी पवित्र [illegible]रत माता को मैं प्रणाम करता हूँ।

× × ×

भारतदेश ।

जय जय प्यारा भारत देश ।
जय जय प्यारा जग से न्यारा,
शोभित सारा देश हमारा,
जगत-मुकुट जगदीश दुलारा,
जय सौभाग्य-सुरेश ॥ जय-जय० ॥
स्वर्गिक सीस फूल पृथिवी का,
प्रेम मूल प्रिय लोक-त्रयी का,
सुललित प्रकृति नटी का टीका,
ज्यों निशि का राकेश ॥ जय-जय० ॥
जय जय शुभ्र हिमाचल शृङ्गा,
कलरव निरत कलोलिनि गङ्गा,
भानुप्रताप चमत्कृत अङ्गा,
तेज-पुञ्ज तव वेश ॥ जय-जय० ॥
जग में कोटि कोटि युग जीवें,
जीवन सुलभ अमीरस पीवें,
सुखद वितान सुकृत का सीवें,
रहे स्वतन्त्र हमेश ॥ जय-जय० ॥

संस्कृत पुस्तकें

(पण्डित विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री लिखित)

विज्ञानमञ्जरी	(प्रथमभाग)	मूल्य ॥=)
"	(द्वितीयभाग)	मूल्य १॥)
संस्कृतरचनानुवादशिक्षा	(प्रथमभाग)	मूल्य ॥)
वाणीविलासम् (नाटक)		मूल्य ।)
शक्तिप्रकाशम् (नाटक)		यन्त्रस्थ

प्राप्तिस्थान—

नन्दकिशोर शर्मा

सदाचाराश्रम, काशी ।

